संपादक—
ब्रजरत्नदास

जोधपुर-नरेश महाराज यशवंतसिंह-कृत

भाषा-भूषण

संपादक

व्रजरत्नदास

(मंत्री काशी-नागरीप्रचारिणी सभा

और अध्यापक हरिश्चंद्र हाईस्कूल

काशी)

मूल्य ॥।)

प्रकाशक—
श्री रामचन्द्र पाठक
व्यवस्थापक—पाठक एण्ड सन्स
राजा दरवाजा—काशी

प्रथम संस्करण

मुद्रक—
गणपति कृष्ण गुर्जर,
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, जतनबर
बनारस

उपहार

श्रीयुत...

....

....

विनीत...

प्रकाशक का निवेदन

लगभग चार पाँच वर्ष के हुए कि जब मैं विद्योपार्जन के लिये हरिश्चन्द्र हाई स्कूल में जाया करता था पर दुर्भाग्य से जीविका के लिये उद्योग करने की आवश्यकता आ पड़ने पर मुझे उस विद्या-मंदिर को त्यागना पड़ा। जीविका-निर्वाहार्थ उद्यम के साथ साथ मातृ-भाषा का प्रेम भी मेरे हृदय में अंकुरित हो रहा था जिससे अंततः मैंने यही निश्चय किया कि मातृभाषा-मंदिर की सेवा में ही अपना जीवन व्यतीत करूँ। इस निश्चय के साथ ही यह विचार भी हुआ कि एक पुस्तक-माला निकालूँ पर अनेक आर्थिक संकटों के कारण अभी तक वह विचार कार्यरूप में परिणत नहीं हो सका था। प्रायः तीन मास के लगभग हुए जब मैंने कई विश्वविद्यालयों की उच्च परीक्षाओं की पाठ्यपुस्तकों में भाषाभूषण ग्रंथ का उल्लेख पाया, तब यह विचार कर कि इस छोटे ग्रंथ को सुसंपादित करा कर प्रकाशित करना मेरे लिये साध्य होगा इससे उसी उद्योग में लगा। मेरे पिता पं० केदारनाथ पाठक के परम मित्र बाबू व्रजरत्नदासजी ने इस कार्य को कर देने का वचन देकर मुझे उत्साहित किया और उन्होंने थोड़े ही समय में इस कार्य को पूरा कर दिया जिसके लिये मैं उनका चिरआभारी रहूँगा। यद्यपि आपके परिशीलन तथा मनन का प्रधान विषय इतिहास

ही है, पर साहित्यिक ग्रंथों से भी आपको विशेष प्रेम है। इस कथन के साक्षी रूप में रहिमन विलास, प्रेमसागर आदि ग्रन्थ, जो आपके संपादकत्व में प्रकाशित हो चुके हैं और यह ग्रंथ ही पाठकों के सम्मुख उपस्थित है।

पाठ्य-पुस्तक होने के कारण समयाभाव से इसका संपादन अत्यंत शीघ्रता से किया गया है तिस पर भी, आशा है कि गुणग्राहक पाठकों को इस ग्रंथ के परिशीलन पर ज्ञात होगा कि इस ग्रंथ के भिन्न भिन्न संस्करणों से इसमें कई विशेषताएँ हैं।

यह भी मेरा विचार है कि बाबू चंडीचरण सेन कृत 'ऐइ कि रामेर अयोध्या' के अनुवाद 'मानकुमारी' का दूसरा संस्करण भी निकालूँ जिसका पहला संस्करण हाथों हाथ बिक गया है। मेरे इन विचारों की पूर्ति साहित्य के मर्मज्ञ विद्वानों तथा मातृभाषा के प्रेमियों की सहानुभूति तथा दया पर ही निर्भर है।

अंत में हिंदी-साहित्य प्रेमियों तथा विश्वविद्यालय के विद्वान् सदस्यों से नम्र निवेदन है कि वे अपने यहाँ के विद्या-केंद्रों में इस पुस्तक को समुचित स्थान दिलाने का प्रयत्न कर मुझे आगे के लिये उत्साहित करें।

विनीत—प्रकाशक।

विषय-सूची

भूमिका

—:o:—

१—शब्द-शक्ति

'काव्यम् वाक्यम् रसात्मकं' से प्रकट होता है कि काव्य सरस पदों का समूह मात्र है पर वास्तव में ऐसा ही है या नहीं इस पर विवेचना करना यहाँ वांछनीय नहीं है। इसी प्रकार वाक्य भी शब्दों के समूह हैं पर केवल कुछ शब्दों को एक साथ पिरो देने ही से वाक्य नहीं बन जाता। जब तक इन शब्दों में अर्थ-गर्भित संबंध की प्राणप्रतिष्ठा नहीं की जाती तब तक ये वाक्य का रूप धारण नहीं कर सकते। अब यह भी विवेचनीय है कि क्या शब्दों के जो सर्वसम्मत या निश्चित अर्थ हैं उन्हीं का योग वाक्य का भी अर्थ होता है? जब तक शब्द किसी वाक्य या वाक्यांश के अंग नहीं बन जाते अर्थात् स्वतंत्र रहते हैं तब तक उनका वही अर्थ लिया जाता है जो निश्चित मान लिया गया है पर जब वे किसी वाक्य में सम्मिलित किए जाते हैं तब उनका अर्थ वाक्य के तात्पर्य के अनुकूल लिया जाता है। ये अर्थ शब्दों की तीन शक्तियों अभिधा, लक्षणा और व्यंजना—के अनुसार वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य होते हैं। कोई शब्द वाच्यार्थ देनेसे वाचक, लक्ष्यार्थ देने से लक्ष्य और व्यंग्यार्थ देने से व्यंजक कहलाता है।

शब्दों के उसी अभिप्राय के प्रकट करने की शक्ति जो उनके नियत अर्थों से निकलती है अर्थात् मुख्य (संकेतित) अर्थ का उद्बोधन करनेवाली शक्ति को अभिधा कहते हैं। जैसे,

सीस मुकुट, कर में लकुट, उर वनमाल रसाल।
जमुना तीर तमाल ढिग मैं, देख्यो नँदलाल॥

इस दोहे के सब शब्द अपने मुख्य अर्थ ही को प्रकट कर रहे हैं इसलिए उनकी अभिधा शक्ति ही केवल उद्‌बुद्ध हुई है।

जब वाक्य में किसी शब्द के मुख्यार्थ के सुसंगत न होने पर प्रसिद्धि (रूढ़ि) के कारण अथवा किसी विशेष प्रयोजन के लिए अन्य अर्थ की कल्पना (मुख्यार्थ से संबंध रखते हुए) करनी पड़ती है तब उस शब्द की लक्षणा शक्ति का उपयोग किया जाता है। रूढ़ि (प्रसिद्धि) और प्रयोजन के अनुसार अर्थ-कल्पना करने से लक्षणा के दो भेद हुए। रूढ़ि का उदाहरण लीजिए—

फल्यो मनोरथ रावरो, मोहिं परत पहिचानि।
प्रफुलित नयन विलोकियत, अंग अंग मुद खानि॥

इस दोहे में मनोरथ के फलने और नेत्र के फूलने का उल्लेख किया गया है पर फलना फूलना वृक्षादि का काम है न कि मनोरथ और नेत्र का। पर मुख्यार्थ के सुसंगत न होने पर लक्षणा से पूरा होना और प्रसन्न होना अर्थ लिया गया है जो कवि-समाज में रूढ़ि सा मान लिया गया है।

प्रयोजनवती लक्षणा के कई भेद हैं। पहले दो भेद हैं—शुद्धा और गौणी। फिर प्रथम के उपादान, लक्षण, सारोप और साध्यवसाना चार भेद और किए गए और गौणी अर्थात् द्वितीय के सारोप और आध्यवसाना दो भेद किए गए। अब प्रत्येक भेद के अलग अलग लक्षण और उदाहरण दिए जाते हैं।

(१) उपादान-शुद्धा-प्रयोजन-लक्षणा—जब किसी अन्य गुण का आक्षेप हो अर्थात् जब मुख्यार्थ के साथ साथ अन्य अर्थ भी लक्षित हो। जैसे सभी कहते हैं कि 'बाण चलता है' पर बिना मनुष्य द्वारा प्रेरित हुए जड़ बाण किस प्रकार चल सकते हैं। इस असंगति को मिटाने के लिए 'मनुष्य

द्वारा प्रेरित किया हुआ' की कल्पना करना पड़ता है पर बाण का चलना, जो मुख्यार्थ है, वह भी अपेक्षित है।

(२) लक्षण-शुद्धा-प्रयोजन-लक्षणा—जब मुख्यार्थ का बिल्कुल त्याग कर दिया जाता है। जैसे, 'गंगा-तट-घोसनि सबै, गंगा-घोस कहंत।' गंगा जी के तट पर बनी हुई गोशाला को सभी गंगा पर की गोशाला कहते हैं पर गंगा जी पर किसी गोशाला का निर्मित होना कल्पना के परे है। इसलिए लक्षणा से उस गोशाला का तटस्थ होना कल्पित करना पड़ा। साथ ही इस प्रकार लिखने का यह प्रयोजन था कि किनारा बहुत दूर तक कहा जा सकता है और गोशाला को बिल्कुल जल के पास बना हुआ कहना ध्येय था इसलिए उसे नदी पर बना हुआ कह डाला। इसीलिए कल्पना भी सप्रयोजन होने से प्रयोजन लक्षणा हुई।

(३) सारोपा-शुद्धा-प्रयोजन-लक्षणा—जब केवल कुछ समता ही के कारण मुख्यार्थ को छोड़कर अन्य अर्थ का आरोप किया जाता है। जैसे,

बाँके तेरे नयन, ये बर खंजर की ओप।

यहाँ 'ये' नयन के लिए न होकर लक्षणा से कटाक्षों के लिए आया है। 'बाँके नयन' से भी उपादान से यही अर्थ लक्षित है। इस प्रकार नेत्रों में कटाक्षत्व का आरोप किया गया है।

(४) साध्यवसाना-शुद्धा-प्रयोजन-लक्षणा—जब समता (एक शब्द की लक्षणा-शक्ति और दूसरे की अभिधा-शक्ति से उद्‌बुद्ध अर्थों में) रहते हुए भी दो में से एक अर्थात् विषय या उपमेय न दिया गया हो जैसे—

आजु मोहिं प्यायी सुधा धनि तो सम को आहि?

नायक नायिका से कह रहा है कि तू धन्य है, तुझसा कौन है? जिसने आज हमें अमृत पिलाया है। यहाँ अमृत वाचक है और इसका लक्षक या लक्ष्यार्थ नायिका-मिलन है। दोनों में समता होते भी लक्षक का निगरण है। इसी सारोपा लक्षणा से रूपक अलंकार का प्रादुर्भाव होता है। यहाँ तक शुद्धा-प्रयोजन-लक्षणा के भेदों का वर्णन हुआ जिनमें

वाच्य तथा लक्ष्य का संबंध सादृश्य पर निर्भर नहीं था अर्थात् दोनों में किसी एक समान गुण के कारण नहीं था। जब यह कहा जाता था कि यह संबंध दोनों में समता के कारण है तो इसका तात्पर्य यह है कि दोनों के किसी विशेष बात का मिलान मिल जाने पर उनके भेद की ओर दृष्टि नहीं डाली गई। जैसे, तीरों और धनुर्धारियों, गंगा और गंगा-तट, नेत्र और कटाक्ष तथा अमृत और मिलन में समता मानते हुए भी कोई सादृश्य नहीं है। परंतु जब वाचक तथा लक्षक का संबंध सादृश्य पर स्थित रहता है तब गौणी लक्षणा कही जाती है। इसके दो भेद हैं–

(५) सारोपा-गौणी-प्रयोजन-लक्षणा–जब सदृश गुणों के आरोप से वाचक और लक्षक में संबंध स्थापित हो। जैसे,

मृगनैनी-बेनी फनी डस्यो सो विष उतरै न ॥

सर्प और वेणी में आकार-वर्ण-सादृश्य से वेणी में सर्प का आरोप कर दंशन कराया गया है और प्रेम रूपी विष के न उतरने का कथन हुआ है।

(६) साध्यवसाना-गौणी-प्रयोजन-लक्षणा-जब केवल लक्षक का ही उल्लेख हो। जैसे,

ससि में द्वै खंजन चपल, ता ऊपर धनुतान।

चंद्र (मुख) में दो चपल खंजन (नेत्र) हैं और उन पर ताना हुआ धनुष (भौं) है। इसमें मुख, नेत्र और भौं का, जो वाचक हैं, उल्लेख नहीं है जिससे सारोपा नहीं हुआ।

लक्षणा की यह विवेचना भूषण-कौमुदी के आधार पर की गई है। साहित्य-दर्पण (श्लो० ५-११) में लक्षणा के चालीस भेद दिखलाए गए हैं।

शब्द की तीसरी शक्ति व्यंजना है जिससे शब्द के अभिधा तथा लक्षणा शक्ति से निकले हुए अर्थ से भिन्न कोई विशेष अर्थ की प्रतीति

होती है अर्थात् उस शब्द के वाचक तथा लक्षक अर्थ को छोड़कर विशेष रूप के व्यंजक अर्थ का बोध होता है। परन्तु व्यंग्य के वाच्य तथा लक्ष्य के संबंध से दो भेद होते हैं—अभिधामूला और लक्षणामूला।

(१) जिन शब्दों का एक ही अर्थ होता है, उनके सम्बन्ध में केवल लक्षणा तथा व्यंजना शक्तियों ही का उपयोग होता है पर जो शब्द अनेकार्थक हैं उनका अभिप्रेत अर्थ अभिधा शक्ति ही द्वारा गृहीत होता है। इस प्रकार निर्णीत हुए अर्थ में जब अन्य अर्थ का ज्ञान होता है तब अभिधामूलक व्यंजना कही जाती है। अर्थ-निर्णय संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थप्रकरण, अन्य शब्द का सान्निध्य, सामर्थ्य, औचित्य, देश-काल-स्वर-भेद आदि से किया जाता है। जैसे,

ताप हरै मो करि कृपा वनमाली वन ल्याइ।

यहाँ वनमाली से श्रीकृष्ण ही का अर्थ लिया गया है क्योंकि हिन्दी के प्राचीन तथा अर्वाचीन कवियों ने इस प्रकार की कृपा करना उनके चरित्र का एक आवश्यक अंग मान रखा है। वन-माला धारण किये हुए (वाचक अर्थ) किसी अन्य पुरुष से यहाँ तात्पर्य नहीं है।

(२) जब वाचक अर्थ के असंगत होने से लक्षक अर्थ लिया जाय और उसके आश्रय से व्यंग्य अर्थ का बोध हो तब लक्षणामूलक व्यंजना कहलाती है। अर्थात् जिस शक्ति द्वारा उस प्रयोजन की प्रतीति होती है और जिसके लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है वही लक्षणाश्रया व्यंजना है। जैसे,

तेरो रूप विलोकि कै छबि निज कौं धिक मानि।

वाचक अर्थ छबि को धिक मानना असंगत होने से इनका लक्षक अर्थ लिया गया है। जिससे कहा गया है उसके रूप की प्रशंसा करना ही प्रयोजन है और व्यंग्य है कि वह अधिक सुन्दर है।

२—अलंकार

वाक्य में आये हुए शब्दों का उसीके अनुकूल अर्थ लेने को जिन शक्तियों का प्रयोग होता है उनकी विवेचना करने पर ज्ञात होता है कि उनसे कुछ विशेषता भी उत्पन्न हो जाती है और फिर इन्हींसे रसों के उत्कर्ष को बढ़ानेवाले अलंकार अंकुरित होते हैं। रसों के उत्कर्ष को बढ़ानेवाले अनेक गुण माने गये हैं जिनमें माधुर्य, ओज और प्रसाद तीन प्रधान हैं। अब यह विचारणीय है कि इन गुणों का रस से संबन्ध है या शब्दों तथा उनके द्वारा वाक्यों से। जिस प्रकार वीरता का मनुष्य की आत्मा से, न कि शरीर से, संबन्ध है उसी प्रकार गुणों का वाक्य की आत्मा रस से संबन्ध है, न कि शब्दों द्वारा गठित वाक्य से। जैसे दीर्घकाय पुरुष को देखकर ही उसे वीर मान लेना तथा सत्य पर कृशांग वीर को वीरता-हीन मानना सार-हीन है वैसे ही नीरस पर मधुराक्षरों द्वारा सुगठित वाक्य को मधुरा और वास्तविक सरस पर कर्णकटु अक्षरों द्वारा गठित वाक्य को माधुर्यहीन कहना भी निस्सार है। इस विचार से यही निश्चय होता है कि गुणों का संबन्ध रस से है, शब्दों तथा उनके द्वारा वाक्यों से नहीं।

जिस प्रकार अलंकारों (आभूषण) के शरीर पर धारण करने से सहज सौन्दर्य की वृद्धि होती है उसी प्रकार अलंकार भी शब्दों तथा उनके द्वारा गठित वाक्यों में लाए जाने पर गुणों का उत्कर्ष बढ़ाते हैं। अलंकारों के बिना भी शरीर की नैसर्गिक सुन्दरता तथा सरस वाक्यों के माधुर्यादि बने रहते हैं। वाक्यों की अन्तरात्मा रस के गुणों की विशेषता शब्दों तथा उनके अर्थों द्वारा उसी प्रकार प्रकट होती है जिस प्रकार हार आदि आभूषणों के शारीरिक अवयवों पर धारण करने से नैसर्गिक शोभा की वृद्धि होती है। इसी कारण अलंकार के शब्दों तथा उनके अर्थों द्वारा विशेषता प्रकट करने की शक्ति के अनुसार, दो भेद

किये गए हैं—शब्दालंकार और अर्थालंकार। जो अलंकार दोनों ही द्वारा विशेषता प्रकट करते हैं वे उभयालंकार कहलाते हैं।

अलंकार की परिभाषा कई प्रकार से की जाती है जिनमें से दो का यहाँ उल्लेख कर दिया जाता है। स्थित रस के गुणों की शब्द और अर्थ द्वारा जिस शैली से विशेषता प्रकट की जाय उसे अलंकार कहते हैं। शोभा को बढ़ानेवाले तथा रस आदि का उत्कर्ष करने वाले शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म को अलंकार कहते हैं। शब्दालंकार वह है जिसमें केवल शब्दों ही का सौन्दर्य हो। ये पाँच प्रकार के माने गए हैं—वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र। आधुनिक ग्रन्थकारों ने इनमें से दो वक्रोक्ति और श्लेष को अर्थालंकार ही में परिगणित किया है और भाषाभूषण में भी इसीका अनुसरण किया गया है। प्रथम चार के लक्षण और उदाहरण इस ग्रन्थ में दिए गए हैं। अंतिम चित्रालंकार वह है जिससे वर्णों तथा शब्दों के निबंध से खड्ग, रथ आदि अनेक प्रकार के चित्र बनाए जाते हैं। अक्षरों तथा शब्दों को किसी क्रम से बैठाने के कष्ट-कौशल को दिखाना ही इसमें अभिप्रेत रहता है जिससे शब्दों में तोड़ मरोड़ तथा अर्थ में अस्वाभाविकता सी आ जाती है और कभी कभी माधुर्य का नाश हो जाता है। चित्रालंकार का एक उदाहरण जरासंधवध से, जो अश्वबंध है, उद्धृत किया जाता है।

सुख चारु चारु कान कलगी नक्कासीदार नैन सुखमा बनै न कहत सुहावनी।
गलन गगन लग रहे रुचि चिरुहेर ठगै कवि मति पीठ जीन जीव भावनी॥
गिरिधरदास तैसी पुच्छ पुष्ट दुमची है चारु चारुजामे जामे सरस प्रभवानी।
सुभ सुमती के से कुसुम सुमनसे प्यारे पद पद पर को विपद पद बावनी॥

इन शब्दालंकारों के अनेक उपभेद भी हैं जिनमें कुछ का उल्लेख इस ग्रन्थ में हुआ भी है। अर्थालंकारों की संख्या बहुत अधिक है और इन्हें श्रेणीबद्ध करने का कोई उद्योग भी नहीं किया गया है। परन्तु इन अलंकारों को उनके अंतर्सिद्धांतों के अनुसार कई श्रेणियों में विभाजित

कर सकते हैं। इन सिद्धांतों में साम्य, विरोध, श्रृंखला, न्याय और वस्तु प्रधान हैं।

(१) साम्यमूल—जब दो पदार्थों की समानता का भाव दृष्टि में रखते हुए किसी वर्णन में चमत्कार की व्युत्पत्ति की जाती है तब वह साम्यमूलक कहा जाता है। इसे सादृश्यमूल, साधर्म्यमूल तथा औपम्य-गत भी कहते हैं पर अंतिम नामकरण कुछ संकीर्ण हो जाता है। इस सिद्धांत के अंतर्गत लगभग आधे के अलंकार आ जाते हैं इसलिए स्पष्ट करने के लिए इस विभाग के कुछ उपभेद किए जाते हैं।

(क) अभेद-प्रधान—जब इन दो समान पदार्थों में किसी प्रकार का भेद न हो और एक से प्रकट किए जायँ। इस उपभेद के अंतर्गत रूपक, परिणाम, उल्लेख, भ्रांति, संदेह और अपह्नुति अलंकार हैं।

(ख) भेद-प्रधान—जब दो पदार्थों की समानता स्थापित करते हुए भी उन दोनों की भिन्नता या अपेक्षता को प्रकट करना। इसके अंतर्गत प्रतीप, तुल्य-योगिता, दीपक, दीपकावृत्ति, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टांत, निदर्शना, सहोक्ति, विनोक्ति और व्यतिरेक अलंकार हैं।

(ग) भेदाभेद-प्रधान—जब दो पदार्थों की समानता पूर्ण हो पर यह प्रकट किया जाय कि वे दो भिन्न भिन्न पदार्थ हैं। इस भेद में उपमा, अनन्वय, उपमानोपमेय और स्मरण अलंकार हैं।

(घ) प्रतीति-प्रधान—जिनमें समानता की प्रतीति मात्र हो। उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति इसके अंतर्गत हैं।

(ङ) गम्यप्रधान—जिनमें कुछ समान बातें व्यंग्य से ध्वनित होती हों। इसमें अप्रस्तुतप्रशंसा, प्रस्तुतांकुर, पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति, व्याज-निंदा और आक्षेप परिगणित हैं।

(च) अर्थ-वैचित्र्य-प्रधान—जिनमें समानता का भाव रहते हुए शब्द या वाक्य के अर्थ में कुछ विचित्रता हो। समासोक्ति, परिकर, परि-करांकुर और श्लेष इस उपभेद में माने जाने चाहिएँ।

(२) विरोध-मूल—जब दो पदार्थों या कार्य-कारण में विच्छेद होने से पारस्परिक विरोध प्रकट हो तो वह विरोधमूलक सिद्धांत कहलाएगा। इसके अंतर्गत विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, असंभव, असंगति, विषम, विचित्र और व्याघात अलंकार हैं।

(३) शृंखलामूल—जब दो या उससे अधिक वस्तुओं का क्रम से वर्णन हो और वे शृंखला के समान एक दूसरे से संबद्ध हों। इस सिद्धांत के अनुसार कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार अलंकारों का निर्माण हुआ है।

(४) न्यायमूल—जब तर्क, लोक-प्रमाण या दृष्टांतादि से युक्त वाक्य द्वारा चमत्कार या रोचकता उत्पन्न की जाय। इसके अंतर्गत भी बहुत से अलंकार हैं, इसलिए इसके भी तीन उपभेद किए जाते हैं—वाक्य-न्याय-मूल, लोक-न्याय-मूल और तर्क-न्यायमूल।

(क) वाक्य-न्यायमूल—जब वाक्यों में शब्दों के विशेष क्रम से अथवा दो वाक्यों को विशेष संबंध से सम्मिलित कर रोचकता या चमत्कार की प्राणप्रतिष्ठा की जाय। इसके अंतर्गत यथासंख्य, पर्याय, परिसंख्या, विकल्प, समुच्चय, कारकदीपक, काव्यार्थापत्ति, संभावना, मिथ्याध्यवसिति, ललित और चित्र अलंकार आते हैं।

(ख) तर्क-न्याय-मूल—जब कारण आदि देकर तर्क से कुछ विशेषता स्थापित की जाय। काव्यलिंग, अर्थांतरन्यास, विकस्वर, प्रौढ़ोक्ति, छेकोक्ति, प्रतिषेध, विधि, हेतु और निरुक्ति अलंकार इसी सिद्धांत पर व्युत्पन्न हुए हैं।

(ग) लोक-न्याय-मूल—जब प्रचलित लोक-व्यवहार के प्रयोग से चमत्कार उत्पन्न हो—जैसे, परिवृत्ति, समाधि, प्रत्यनीक, सम, तद्गुण, पूर्वरूप, अनुगुण, अतद्गुण, सामान्य, विशेषक, उन्मीलित, मीलित और भाविक अलंकारों में होता है।

इन अलंकारों के अतिरिक्त भाषाभूषण में विषाद, उल्लास, अवज्ञा,

अनुज्ञा, लेख, मुद्रा, रत्नावली, गूढ़ोत्तर, सूक्ष्म, पिहित, व्याजोक्ति, गूढ़ोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, उदात्त और अत्युक्ति का उल्लेख है। इनमें से अधिकांश ऐसे हैं जिनमें व्यंग्य से छिपा कर या उल्टी बातें कही जाती हैं। ये अलंकार वस्तुमूलक कहे जा सकते हैं।

अलंकारों को श्रेणीबद्ध करने का प्रयत्न कई आचार्य्यों ने किया है। उनमें मत मतांतर होना अवश्यंभावी है। अलंकार शास्त्रियों का ध्यान इस ओर आकर्षित होना चाहिए।

३—ग्रंथ-परिचय

हिंदी साहित्य में वीर तथा भक्ति काल के अनंतर अलंकार-काल का आरंभ काव्याचार्य महाकवि केशवदास से होता है जिन्होंने पहले पहल नायिकाभेद, हाव, भाव तथा अलंकारादि पर लक्षणग्रंथ लिखे हैं। यद्यपि कृपाराम, क्षेम आदि कुछ पूर्व-कवियों ने इस विषय पर लेखनी चलाई थी पर वास्तव में ये ही इस विषय के प्रथम आचार्य थे और माने जाते हैं। इनके अनंतर यह विषय आधुनिक समय तक के हिंदी कवियों को अत्यंत प्रिय रहा। केशवदास के दो प्रसिद्ध ग्रंथ कविप्रिया और रसिक-प्रिया इस विषय पर हैं। इनके बाद चिंतामणि का काव्यविवेक और काव्यप्रकाश, भूषण का शिवराजभूषण और मतिराम के ललितललाम तथा रसराज हैं। इनके अनंतर इस विषय का प्रसिद्ध ग्रंथ भाषाभूषण है जो इन त्रिपाठी-बंधुओं की रचनाओं का समकालीन है*।

---

* इच्छा थी कि अलंकार शास्त्र का संक्षिप्त इतिहास इस भूमिका में दिया जाय और इसके लिए कुछ सामग्री भी एकत्र की जा रही थी पर समयाभाव से नहीं दिया जा सका। भगवदिच्छा हुई तो वह एक स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में पाठकों के सामने उपस्थित किया जायगा।

भाषाभूषण के रचयिता जसवंतसिंह कौन थे इस विषय में कुछ मतभेद है। साधारणतया यह प्रसिद्ध है कि ये जसवंतसिंह मारवाड़ के राजा थे जो मुग़ल सम्राट् औरंगज़ेब के एक प्रसिद्ध सेनानी थे। इसके विरुद्ध डाक्टर ग्रिअर्सन ने लालचंद्रिका की भूमिका में लिखा है कि ये फर्रुख़ाबाद ज़िले के अंतर्गत तिर्वां के राजा थे। अपनी सम्मति की पुष्टि में उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा है। वे उसे सर्वमान्य सा मान कर लिख गए हैं। भाषाभूषण ग्रन्थ में न ग्रंथकर्ता का नाम और न निर्माण-काल ही दिया गया है इसलिए बिना कुछ कारण बतलाए दो में से किसी एक मत के समर्थन में निज सम्मति देना उचित नहीं है। अतः अब कुछ विचार नीचे दिए जाते हैं।

(१) यशवंतयशोभूषण के ग्रंथकर्ता कवि मुरारिदान ने लिखा है कि—

भाषा में मत भरत के है प्रथमहि यह ग्रंथ।
नृपति बड़े जसवंत निज कर्‍यो मरुद्धर-कंथ॥

इसका अर्थ स्पष्ट करने के लिए दो एक बातों का उल्लेख आवश्यक है। महाकवि केशवदासजी ने निज ग्रंथों में भरत का अनुसरण नहीं किया है। मरुद्धर-कंथ का अर्थ मरुधराधीश अर्थात् मारवाड़-नरेश है और इस राजवंश में यशवंतसिंह नाम के दो राजे हुए हैं जिनमें प्रथम भाषा-भूषण के रचयिता हैं और बड़े जसवंतसिंह कहलाते हैं। यशवंतयशो-भूषणकार ने एक शताब्दि पहले मारवाड़ नरेश को भाषाभूषण का ग्रंथ-कर्ता माना है।

(२) काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा गवर्नमेंट जो हिंदी हस्त-लिखित पुस्तकों की खोज कराती है उसमें इस ग्रंथ की अनेक प्रतियों का पता लगा है पर दो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सन् १९०६-०८ की त्रैवार्षिक रिपोर्ट में जिस प्रति का उल्लेख है उसका लिपिकाल सन् १७८५ ईस्वी है और यह किसी प्राचीन प्रति की प्रतिलिपि है। उसी वर्ष की रिपोर्ट में तिर्वा-नरेश जसवंतसिंह का समय सन् १७९७ ई० के लगभग

माना गया है। डाक्टर ग्रिअर्सन लिखते हैं कि इन जसवंतसिंह की मृत्यु सन् १८१५ ईस्वी में हुई। दूसरी प्रति का उल्लेख सन् १९०२ ईस्वी की रिपोर्ट में है जो जोधपुर के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है। इस प्रति के आरंभ में 'श्रीजलंधरनाथायनमः' लिखा रहने से यह ज्ञात होता है कि यह प्रतिलिपि मारवाड़ नरेश राजा मानसिंह के राज्याभिषेक (सन् १८०४ ई०) के बाद तथा उन्हीं के समय की है। इसके अंत में लिखा है कि 'इति श्रीभाषाभूषण ग्रंथ महाराजधिराज महाराजजी श्री जसवंत-सिंह जी कृत संपूर्णः'। जिसके राज्य-काल में लिखी गई थी उनके अन्य ग्रंथों में इसी प्रकार की इति है। उन्हीं के पूर्वज की कृति होने के कारण उस राज्य के नाम का उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा गया। यह कहना अनावश्यक है कि अठारहवीं शताब्दी के आरंभिक अशांतिमय समय में किसी साहित्यिक ग्रंथ का इतनी शीघ्र फर्रुखाबाद से मारवाड़ तक पहुँचना संभव नहीं है।

(३) मारवाड़ नरेश को दोहा छंद सिद्ध हो गया था और उनके सभी अन्य ग्रंथ लगभग इसी छंद में है। तिर्वां-नरेश के शृंगार-शिरोमणि ग्रंथ में दोहा, सवैया, कवित्त सभी छंद हैं। भाषाभूषण में केवल दोहे ही हैं।

(४) भाषाभूषण में उपनाम का प्रयोग नहीं है और उसमें उसके प्रयोग का स्थान भी नहीं है। दोनों यशवंतसिंह ने अपने अन्य ग्रंथों में उपनाम 'यशवंत या जसवंत' का प्रयोग किया है पर मारवाड़ नरेश केवल ग्रंथ के अंत में जब इसका उपयोग करते थे तो तिर्वां-नरेश मध्य अंत सभी में करते थे।

(५) हस्तलिखित पुस्तकों की खोज में भाषाभूषण की दो टीकाएँ प्राप्त हुई हैं। हरिदास कृत टीका सं० १८३४ (सन् १७७७ ई०) में लिखी गई थी। नारायणदास की टीका का निर्माणकाल नहीं दिया है पर उनकी दूसरी पुस्तक छंदसार का नि० का० सन् १७७२ ई० है। ये टीकाएँ तिर्वां-नरेश जसवंतसिंह की मृत्यु के चालीस बयालीस वर्ष पूर्व की हैं।

(६) तिर्वा-नरेश जसवंतसिंह ने श्रृंगार शिरोमणि में विहित भाव का लक्षण एक दोहे में लिखकर एक सवैया में उसका उदाहरण दिया है।

नहि पूरन अभिलाख जहँ पिय समीप ते होत।
विहित हाव 'यशवंत' सो बरनत बड़े उदोत॥

पर भाषाभूषण में लक्षण यों दिया है—

बोलि सकैं नहिं लाज तें विकृत सो हाव बखानि।

कम से कम एक ही लेखनी से ये दोनों लक्षण नहीं निकले हैं। विहित (विहृत) और विकृत एकार्थक हैं।

पूर्वोक्त विचारों से यही निश्चित होता है कि मारवाड़-नरेश जसवंतसिंह ही इस ग्रंथ के प्रणेता हैं और डा० ग्रियर्सन का कथन उसी प्रकार की उनकी एक भ्रांति है जैसी गोस्वामी तुलसीदासजी के लिखे पंचनामे के टोडर को प्रसिद्ध राजा टोडरमल बतलाना दूसरी है।

कुछ विद्वानों का कथन है कि भाषाभूषण जयदेव-कृत चंद्रालोक के पाँचवें मयूख का अक्षरशः अनुवाद है। यह कहाँ तक ठीक है इसकी विवेचना कुछ श्लोकों तथा दोहों को उदाहरणार्थ उद्धृत करने से स्पष्ट हो जायगा। चंद्रालोक में अपह्नुति का लक्षण तथा उदाहरण देकर चार प्रकार की और अपह्नुतिओं का भी लक्षण तथा उदाहरण दिया गया है। भाषाभूषण में चंद्रालोक की अपह्नुति को शुद्ध-अपह्नुति मानकर तथा हेत्वपह्नुति को बढ़ाकर छ भेद किए गए हैं।

अपह्नुति (चंद्रालोक)

अतथ्यमारोपयितुं तथ्यापास्तिरपह्नुतिः।
नायं सुधांशुः किं तर्हि व्योमगंगासरोरुहम्॥

तथ्य-धर्म के निषेधपूर्वक अतथ्य को आरोपित करना अपह्नुति है। जैसे, यह चंद्रमा नहीं है, आकाश-गंगा का कमल है।

(भाषाभूषण)

धर्म दुरैं आरोप तें शुद्ध-अपह्नुति जानि ।
उर पर नाहिं उरोज ए कनक-लता फल मानि ॥

पर्यस्तापह्नुति (चंद्रालोक)

पर्यस्तापह्नुतिर्यत्र धर्ममात्रं निषिध्यते ।
नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसी मुखम् ॥

(भाषाभूषण)

पर्यस्त जु गुन एक को और बिषै आरोप ।
होइ सुधाधर नाहिं यह बदन-सुधाधर-ओप ॥

भ्रांतापह्नुति (चंद्रालोक)

भ्रांतापह्नुतिरन्यस्य शंकया तथ्यनिर्णये ।
शरीरे तव सोत्कंपं ज्वरः किं न सखि स्मरः ।

(भाषाभूषण)

भ्रांति अपह्नुति वचन सों भ्रम जब पर कों जाइ ।
ताप करत है, ज्वर नहीं, सखी मदन-तप आइ ॥

छेकापह्नुति (चंद्रालोक)

छेकापह्नुतिरन्यस्य शंकया तथ्यनिह्नवे ।
प्रजल्पन्मत्पदे लग्नः कांतः किं नहि नूपुरः ॥

अर्थ—शंका करके तथ्य को छिपाना छेकापह्नुति है । जैसे, (नायिका कहती है कि) मेरे पैरों से बातचीत में संलग्न है । (तब सखी पूछती है कि) कौन ? पति । (तब नायिका लज्जा या डर से उत्तर देती है कि) नहीं, नूपुर ।

(भाषाभूषण)

छेकापह्नुति जुक्ति करि पर सों बात दुराइ ।
करत अधर-छत पिय नहीं, सखी ! सीतरितु बाइ ॥

भाषाभूषण

जोधपुर-नरेश महाराज जसवंत सिंह

कैतवापह्नुति (चंद्रालोक)

कैतवं व्यज्यमानत्वे व्याजाद्यैर्निह्नुतेः पदैः ।
निर्यांति स्मरनाराचाः कांताद्दक्पातकैतवात् ॥

(भाषाभूषण)

कैतवऽपह्नुति एक कों मिसु करि बरनै आन ।
तीछन तीय-कटाच्छ-मिस बरषत मनमथ बान ॥

एक और उदाहरण लीजिए जिसमें चंद्रालोक के लक्षण के न मिलते हुए भी उसके उदाहरण का कोरा अनुवाद इस ग्रंथ में दिया गया है ।

अत्युक्ति (चंद्रालोक)

अत्युक्तिरद्भुता तथ्यशौर्यौदार्यादिवर्णनम् ।
त्वयि दातरि राजेंद्र याचकाः कल्पशाखिनः ॥

(भाषाभूषण)

अलंकार अत्युक्ति यह बर्नत अतिसय रूप ।
जाचक तेरे दान ते भए कल्पतरु भूप ॥

केवल उन्हीं श्लोकों का अर्थ दिया गया है जो भाषाभूषण के दोहों के समानार्थी नहीं हैं । पूर्वोल्लिखित श्लोकों तथा दोहों के मिलान से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषाभूषण की रचना चंद्रालोक के आधार पर अवश्य हुई है पर अन्य ग्रंथों से भी सहायता ली गई है । साथ ही ग्रंथकार ने निज मस्तिष्क से भी काम लिया है । एक ही दोहे में लक्षण तथा उदाहरण देने का आदर्श भी ग्रन्थकार को संस्कृत के लक्षण ग्रन्थों तथा विशेष कर चंद्रालोक ही से प्राप्त हुआ है ।

४—कवि परिचय

जसवंतसिंह महाराज गजसिंह के द्वितीय पुत्र थे और सं० १६९४ में बूंदी में इन्हें अपने पिता की मृत्यु का समाचार मिला । ये वहाँ से

दिल्ली गए और शाहजहाँ ने अपने हाथ से इन्हें टीका देकर चारहज़ारी मंसब पर नियुक्त किया। पहली बार दाराशिकोह के साथ और दूसरी बार औरंगज़ेब के साथ ये कंधार विजय करने गए थे पर ये दोनों चढ़ाइयाँ निष्फल-प्रयत्न हुईं। सं० १७१४ में शाहजहाँ के रोगग्रस्त होने पर उसके चारों पुत्र दिल्ली के तख़्त पर अधिकार करने की चेष्टा करने लगे। बड़े पुत्र दारा के हाथ में उस समय राज्य की बागडोर थी और उसने अपने अन्य भाइयों का मार्ग रोकने को, जो ससैन्य दिल्ली की ओर बढ़ रहे थे, सेनाएँ भेजीं। दक्षिण से औरंगज़ेब और गुजरात से मुरादबख़्श ने चढ़ाई की और इन दोनों ने मार्ग में मिलकर दिल्ली की ओर प्रस्थान करने का विचार किया। दारा ने महाराज जसवंतसिंह को मालवा का सूबेदार नियुक्त कर इन दोनों शाहजादों को रोकने को भेजा था। शाहजहाँ ने, जिनके यह विशेष कृपापात्र थे, इन्हें गुप्त रूप से आज्ञा दी थी कि वे उन शाहजादों को यथासंभव विशेष हानि पहुँचाने का प्रयत्न न करेंगे। जसवंतसिंह ने इस विचार से कि दोनों शाहजादों को एक साथ ही पराजित करेंगे उन्हें सम्मिलित होने का अवसर दे दिया। साथ ही दिल्ली से आई मुसलमान सेना के औरंगज़ेब से मिल जाने के कारण अंत में युद्ध का फल यही हुआ कि महाराज जसवंतसिंह परास्त होकर अपने राज्य को लौट गए।

औरंगज़ेब ने दारा को सामूगढ़ के युद्ध में पराजित कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया और शाहजहाँ तथा मुरादबख़्श को क़ैद कर शुजा से युद्ध करने को बंगाल की ओर बढ़ा। कुटिल नीतिज्ञ औरंगज़ेब ने यह विचार कर कि एक प्रसिद्ध सेनाध्यक्ष को, जो दारा की सहायता कर उसे फिर से युद्ध को तैयार कर सकता है, अपना शत्रु बनाकर पीछे छोड़ युद्धार्थ आगे बढ़ना उचित नहीं है जयपुराधीश महाराज जयसिंह के द्वारा जसवंतसिंह को क्षमापत्र भेजकर बुलवा लिया और अपने साथ लिवाता गया। खजुहा के युद्ध में भी जसवंतसिंह ने शुजा से मिलकर औरंगज़ेब

को नीचा दिखलाना चाहा पर शुजा के अवसर पर न पहुँचने से वे सफल-प्रयत्न नहीं हुए। औरंगज़ेब ने इन्हें सेना के दाहिने भाग में स्थान दिया था पर ये उसी षड्यंत्र के अनुसार रात्रि को बादशाही कैंप लूटते आगरे लौटे और यहाँ भी कुछ दिन ठहर कर दारा की राह देख जोधपुर लौट गए। दारा जो गुजरात में सेना एकत्र कर रहा था उससे इन्होंने पत्र-व्यवहार कर अपनी सहायता का वचन दिया पर जब वह युद्धार्थ दिल्ली की ओर बढ़ा तब मिर्ज़ाराजा जयसिंह के मध्यस्थ होने पर औरंगजेब ने जसवंतसिंह को क्षमापत्र तथा गुजरात की सूबेदारी देकर अपनी ओर मिला लिया।

चार वर्ष तक गुजरात की सूबेदारी करने के अनंतर ये सं० १७१९ में शायस्ता ख़ाँ के साथ शिवाजी को दमन करने दक्षिण भेजे गए पर वे शिवाजी से मिल गए। पूना में शायस्ता ख़ाँ की दुर्दशा होने पर उसे बंगाल भेज दिया गया और उसके स्थान पर शाहज़ादा मुअज़्ज़म नियत हुए। इस प्रकार दो तीन वर्ष व्यतीत होने पर ये राजधानी को बुला लिए गए। सं० १७२४ में ये पुनः शाहज़ादा मुअज़्ज़म के साथ दक्षिण भेजे गए पर वहाँ भी औरंगज़ेब के विरुद्ध मुअज़्ज़म को उभाड़ने के दोष के कारण राजधानी बुला लिए गए और काबुल की सूबेदारी मिली। यहीं जमरुंद में इनकी सं० १७३५ में मृत्यु हो गई। इनके बड़े पुत्र पृथ्वीसिंह को औरंगज़ेब ने विषपूरित खिलअत देकर मार डाला था और दो छोटे पुत्र काबुल की सर्दी से वहीं कालकवलित हो गए। मृत्यु के समय इनकी एक रानी गर्भवती थीं जिनसे अजीतसिंह पुत्र हुए और जिन्होंने अंत में अपने तथा अपने सरदारों के तीस वर्ष के निरंतर परिश्रम पर अपना राज्य लौटा पाया था।

महाराज जसवंतसिंह स्वयं कवि तथा कवियों के आश्रयदाता थे। बारहठ नरहरिदास चारण, नवीन, सूरति मिश्र, जगजी चारण, केशवदास

चारण आदि इनके दरबार में रहते थे। महाराज के रचे हुए सात ग्रंथों का पता खोज में चला है जिनके नाम नीचे लिखे जाते हैं—

१. अपरोक्ष सिद्धांत—वेदांत विषयक (आत्म-तत्व) ग्रंथ है जिसमें लगभग १०० दोहे हैं।

२. अनुभवप्रकाश—वेदांत विषयक छोटा ग्रंथ है।

३. आनंदविलास—वेदांत विषयक ग्रंथ है और इसका निर्माणकाल सं० १७२४ है।

४. भाषाभूषण—अलंकार-विषयक ग्रंथ है।

५. सिद्धांतबोध—वेदांत विषयक ग्रंथ है।

६. प्रबोध चंद्रोदय नाटक भाषा—संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रंथ का भाषांतर है।

७. सिद्धांतसार—वेदांत विषयक ग्रंथ है।

५—विनीत निवेदन

भाषाभूषण अलंकार का एक प्रसिद्ध तथा उपयोगी ग्रंथ है। इसके बहुत से टीकाकार हुए हैं जिनमें दो का उल्लेख किया जा चुका है। सिंगरामऊ के महाराज रणधीरसिंह 'शिरमौर' ने भूषण-कौमुदी नामक टीका लिखी है जो अब अप्राप्य है। हरिचरणदास ने भी एक टीका लिखी है जिसका कोई विशिष्ट नामकरण नहीं किया गया है और वंशीधर कृत एक टीका अलंकार-रत्नाकर नाम की है। भाषाभूषण की इतनी प्रसिद्धि उचित ही है। एक एक दोहे में अलंकारों का लक्षण तथा उदाहरण दोनों ही देना इसके ग्रंथकर्ता के पूर्ण कवित्वशक्ति का परिचायक है। साथ ही भाषा भी कहीं क्लिष्ट नहीं होने पाई है और न पढ़ने ही में कहीं अरुचिकर हुई है। छंद के इतने छोटे होने के कारण कहीं कहीं अर्थ स्पष्ट नहीं था पर डा० ग्रिअर्सन ने उन कठिनाइयों को अपने अनुवाद में हल कर दिया है।

भाषाभूषण का यह संस्करण डा० ग्रिअर्सन द्वारा संपादित लाल-

चंद्रिका की भूमिका में दिए गए इस ग्रंथ के आधार पर तैयार किया गया है। पाठ शुद्ध करने के लिए पं० दुर्गादत्त द्वारा संशोधित तथा लाइट प्रेस में छपी हुई प्रति से सहायता ली गई है। अलंकार आदि के लक्षण तथा उदाहरणों के अर्थ स्पष्ट करने के लिए ग्रंथ के अंत में टिप्पणी दे दी गई है। महाराज जसवंतसिंह का जीवन-चरित्र बहुत ही संक्षेप में दिया गया है और उनका चित्र, जो इस पुस्तक के साथ लगाया गया है, जोधपुर की राजकीय चित्रशाला से मुं० देवीप्रसादजी के अनुग्रह से प्राप्त हुआ था। अस्तु, भाषाभूषण का यह संस्करण पाठकों के समक्ष इस रूप में उपस्थित किया जाता है। यदि पाठकों का इससे कुछ भी मनोरंजन हुआ तो मेरा परिश्रम सफल हो जायगा।

दीपमालिका
कार्तिक ब० १५
सं० १९८१

ब्रजरत्नदास

शुद्धाशुद्ध-पत्र

संख्या दो	अशुद्ध	शुद्ध
४०	निबदौ	निर्वदौ
„	तम	त्रम
१०५	*	इस चिन्ह की पाद टिप्पणी पृष्ठ १५ में है।
१६५	होह	होहि
१७०	मिट	मिटै
६६-७० टिप्पणी	फलेत्प्रेक्षा	फलोत्प्रेक्षा
८८-६० टिप्पणी	या	यों
„	वक्यायुग	वाक्य युग
११०-११५ टिप्पणी	का	की
१२४-२६ टिप्पणी	का	की
३ पृ० भू० १ पं०	संवंध	संबंध
„ १४ पं०	उल्वेख	उल्लेख
„ २१ पं०	प्रभवानी	प्रभावनी

भाषा-भूषण
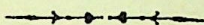
[मंगलाचरण]

बिघनहरन तुम हौ सदा गनपति होउ सहाइ ।
बिनती कर जोरे करौं दीजै ग्रंथ बनाइ ॥१॥
जिन्ह कीन्हौ परपंच सब अपनी इच्छा पाइ ।
ताकौ हौं बंदन करौं हाथ जोरि सिर नाइ ॥२॥
करुना करि पोषत सदा सकल सृष्टि के प्रान ।
ऐसे ईश्वर को हियै रहौ रैनि दिन ध्यान ॥३॥
मेरे मन मैं तुम रहौ ऐसौ क्यौं कहि जाइ ।
तातैं यह मनु आप सौं लीजै क्यों न लगाइ ॥४॥
रागी मन मिलि स्याम सौं भयौ न गहिरौ लाल ।
यह अचरज उज्जल भयौ तज्यौ मैल तिहिं काल ॥५॥

[चतुर्विध नायक]

एक नारि सौं हित करै सो अनुकूल बखानि ।
बहु नारिन सौं प्रीति सम ताकौं दच्छिन जानि ॥६॥
मीठी बातैं सठ करै करिकै महा बिगार ।
आवै लाज न धृष्ट कौं किये कोटि धिक्कार ॥७॥

[त्रिविध नायक]

स्वकिया पति कों पति कहैं परकीया उपपत्ति।
वैसिक नायक की सदा गनिका सों हित रत्ति ॥८॥

[नायिका जाति-भेद]

पद्मिनि, चित्रिनि, संखिनी अरु हस्तिनी बखानि।
बिबिधि नायिका भेद में चारि जाति तिय जानि ॥९॥

[त्रिविध नायिका]

स्वकिया व्याही नायिका परकीया पर-बाम।
सो सामान्या नायिका जाको धन सों काम ॥१०॥

[अवस्था-भेद]

बिनु जानैं अज्ञात है जानैं जोबन ज्ञात।
मुग्धा के द्वै भेद ये कवि सब बरनत जात ॥११॥
मध्या सो जामैं दुवो लज्जा मदन समान।
अति प्रबीन प्रौढ़ा वहै जाको पिय में प्रान ॥१२॥

[परकीया के छ भेद]

क्रिया बचन में चातुरी यहै बिदग्धा रीति।
बहुत दुरायेहू सखी लखी लच्छिता-प्रीति ॥१३॥
गुप्ता रति-गोपित करै, तृप्ति न कुलटा आहि।
निहचै जानत पिय-मिलन मुदिता कहियै ताहि ॥१४॥
बिनसै ठौर सहेट की, आगे होइ न होइ।
जाइ सकै न सहेट मैं अनुसयना है सोइ ॥१५॥

[नव विधि नायिका]

प्रोषितपतिका बिरहिनी, अति रिस पति सौं होइ ।
पुनि पीछे पछिताइ मन कलहंतरिता सोइ ॥१६॥
पति आवै कहुँ रैनि बसि प्रात खंडिता गेह ।
जाति मिलन अभिसारिका सजि सिँगार सब देह॥१७॥
पिय सहेट आयौ नहीं चिंता मन में आनि ।
सोचु करै संताप सौं उत्कंठिता बखानि ॥१८॥
बिनु पाये संकेत पिय बिप्रलब्ध तन ताप ।
वासकसज्जा तन सजै पिय-आवन जिय थाप ॥१९॥
जाके पति आधीन कहि स्वाधिनपतिका ताहि ।
भोर सुने पिय कौ गमन प्रवस्यतपतिका आहि ॥२०॥*

[गर्विता, अन्यसंभोगदुःखिता]

रूप प्रेम अभिमान तें दुबिध गर्बिता जानि ।
अन्यसँभोग जु दुःखिता अनत मिलन पिय मानि ॥२१॥

[धीरादि भेद]

गोपि कोप धीरा करै प्रगट अधीरा कोप ।
लच्छन धीराधीर कौ कोप प्रगट अरु गोप ॥२२॥

---

* ग्रियर्सन-संपादित लालचंद्रिका में यह दोहा अधिक है —
जाको पिय आवै मिलन अपनी तिय को होइ ।
लच्छण कविजन कहत हैं आगतपतिका सोइ ॥

[त्रिबिध मान-लक्षण]

सहजैं हाँसी खेल तैं, बिनय बचन सुनि कान।
पाँइ परैं पिय के मिटै, लघु मध्यम गुरु मान ॥२३॥

[आठ सात्विक अनुभाव]

स्तंभ, कंप, स्वरभंग कहि, बिबरन, आँसू, स्वेद।
बहुरि प्रलय, रोमांच पुनि आठौ सात्विक भेद ॥२४॥

[दस हाव]

होइँ सँजोग सिंगार में दंपति के तन आइ।
चेष्टा जो बहु भाँति की ते कहियै दस हाइ ॥२५॥
पिय प्यारी रति सुख करैं लीला हाव सो जानि।
बोलि सकैं नहि लाज तैं विकृत* सो हाव बखानि ॥२६॥
चितवनि बोलनि चलनि मैं रस की रीति बिलास।
सोहत अँग अँग भूषननि ललित सो हाव प्रकास ॥२७॥
विच्छिति काहू बेर में भूषन अलप सुहाइ।
रस सौं भूषन भूलि कै पहिरै बिभ्रम हाइ ॥२८॥
क्रोध हर्ष अभिलाष भय किलकिंचित में होइ।
प्रगट करै दुख सुख-समै हाव कुट्टमित सोइ ॥२९॥
प्रगट करै रिस पीय सौं बात न भावति कान।
आये आदरु ना करै धरि बिब्बोक गुमान ॥३०॥

---

* पाठा० विहित (विहृत)। दोनों ही के लक्षण 'लज्जा से अपनी चित्त-वृत्ति का न कहना' है।

पिय की बातनि के चलैं तिय अँगराइ जँभाइ ।
मोट्टायित सो जानियैं कहै महा कविराइ ॥३१॥*

[विरह की दस दशा]

नैन मिले मनहूँ मिल्यौ मिलिबे को अभिलाष ।
चिन्ता जाति न बिनु मिलै जतन कियेहूँ लाख ॥३२॥
सुमिरन रस संजोग कौं करि कहि लेति उसास ।
करति रहति पिय-गुन-कथन मन उद्वेग उदास ॥३३॥
बिनु समुझे कछु बकि उठै कहियै ताहि प्रलाप ।
देह घटति मन मैं बढ़ति विरह व्याधि संताप ॥३४॥
तिय-मूरति मूरति भई है जड़ता सब गात ।
सो कहियै उन्माद बस सुधि बिन निसि दिन जात ॥३५॥

[रस और स्थायी भाव]

रस सृँगार, सो हास्य पुनि, करुना, रौद्रहि जानि ।
बीर, भयरु बीभत्स कहि अद्भुत, सांत बखानि ॥३६॥
रति हासी अरु शोक पुनि क्रोध उछाहरु भीति ।
निन्दा बिस्मय आठ ये स्थायी भाव प्रतीति ॥३७॥

---

* प्रति० ख में ३० और ३१ वें दोहों का आशय एक ही दोहे में इस प्रकार दिया गया है—

मोट्टायित चाहै दरस बातन भावत कान ।
आये आदरु ना करै धरि बिब्बोक गुमान ॥

[उद्दीपन, आलंबन, विभाव, अनुभाव]

जो रस की दीपति करै उद्दीपन है सोइ।
सो अनुभाव जु ऊपजै रस कौ अनुभव होइ ॥३८॥
आलंबन आलंबि रस जामैं रहै बनाउ।
नौहू रस मैं संचरै ते व्यभिचारी भाउ ॥३९॥

[तेंतीस व्यभिचारी भाव]

निबदौ, संका, गरब, चिंता, मोह, बिषाद।
दैन्य, असूया, मृत्यु, मद, आलस, तम, उन्माद ॥४०॥
आकृति-गोपन, चपलता, अपसमार, भय, ग्लानि।
ब्रीड़ा, जड़ता, हर्ष, धृति, मति, आवेग बखानि ॥४१॥
उत्कंठा, निद्रा, स्वपन, बोध, उग्रता भाय।
व्याधि, अमर्ष, वितर्क, स्मृति ये तैंतीस गनाय ॥४२॥

[उपमा अलंकार]

उपमेयरु उपमान जहँ बाचक धर्म सुचारि।
पूरन-उपमा, हीन तहँ लुप्तोपमा बिचारि ॥४३॥
इहि बिधि सब समता मिलै उपमा सोई जानि।
ससि सो उज्जल तियबदन, पल्लव से मृदु पानि ॥४४॥

---

* अलंकार सामान्य अरु कहैं विसिष्ट प्रकार।
सब्द अर्थ तें जानियें दोउन के व्यवहार ॥४३॥
ग्रंथ बढ़ै सामान्य तें गजभूमि परसंग।
तातें कछु संक्षेप तें कहि विसिष्ट के अंग ॥४४॥
ये दोहे प्रति ख में अधिक हैं।

वाचक धर्म रु बर्ननिय है चौथो उपमान।
इक बिन, द्वै बिन, तीनि बिन लुप्तोपमा प्रमान ॥४५॥
विजुरी सी। पंकजमुखी, कनकलता तिय लेषि।
बनिता रस सृंगार की कारन-मूरति पेषि ॥४६॥

[अनन्वय]

उपमेयहि उपमान जब कहत अनन्वय ताहि।
तेरे मुख की जोड़ कौ तेरोही मुख आहि ॥४७॥

[उपमानोपमेय]

उपमा लागै परसपर सो उपमानुपमेय।
खंजन हैं तुअ नैन से तुअ दृग खंजन सेय ॥४८॥

[पाँच प्रतीप]

सो प्रतीप उपमेय कौं कीजै जब उपमानु।
लोयन से अंबुज बने मुख सौं चंद्र बखानु ॥४९॥
उपमे कौं उपमान तें आदर जबै न होइ।
गरब करति मुख को कहा चंदहि नीकै जोइ ॥५०॥
अनआदर उपमेय तें जब पावै उपमान।
तीछन नैन कटाच्छ तें मंद काम के बान ॥५१॥
उपमे कौं उपमान जब समता लायक नाहिं।
अति उत्तम दृग मीन से कहे कौन बिधि जाहिं ॥५२॥
व्यर्थ होइ उपमान जब बर्ननीय लखि सार।
दृग आगे मृग कछु न ये पंच प्रतोप प्रकार ॥५३॥

[रूपकालंकार]

है रूपक द्वै भाँति को मिलि तद्रूप अभेद।
अधिक न्यून सम दुहुन के तीनि तीनि ये भेद ॥५४॥
मुख-ससि या ससि तें अधिक उदित जोति दिन राति।
सागर तें उपजी न यह कमला अपर सुहाति ॥५५॥
नैन कमल ए ऐन हैं और कमल किहि काम।
गँवन करति नीकी लगति कनकलता यह बाम ॥५६॥
अति सोभित बिद्रुम-अधर नहिं समुद्र-उत्पन्न।
तुअ मुख-पंकज बिमल अति सरस सुबास प्रसन्न ॥५७॥

[परिणामालंकार]

करै क्रिया उपमान है बर्ननीय परिनाम।
लोचन-कंज बिसाल तें देखो देखति बाम ॥५८॥

[द्विविधि उल्लेख]

सो उल्लेख जु एक कों बहु समझैं बहु रीति।
अर्थिन सुरतरु, तिय मदन, अरि कों काल प्रतीति ॥५९॥
बहु बिधि बरनैं एक कों बहु गुन सों उल्लेख।
तू रन अर्जुन, तेज रवि, सुरगुरु बचन बिसेष ॥६०॥

[स्मरण भ्रम संदेह अलंकार]

सुमिरन भ्रम संदेह ए लच्छन नाम प्रकास।
सुधि आवति वा बदन की देखैं सुधानिवास ॥६१॥
बदन सुधानिधि जानि ए तुअ सँग फिरत चकोर।
बदन किधौं यह सीतकर किधौं कमल भये भोर ॥६२॥

[छ प्रकार के अपह्नुति अलंकार]

धर्म दुरैं आरोप तैं शुद्ध-अपह्नुति जानि।
उर पर नाहिं उरोज ए कनकलता-फल मानि ॥६३॥
बस्तु दुरावै जुक्ति सौं हेतु अपह्नुति होइ।
तीव्र चंद नहिं रैनि-रवि बड़वानलही जोइ ॥६४॥
पर्यस्त जु गुन एक कौं और बिषै आरोप।
होइ सुधाधर नाहिं यह बदन-सुधाधर-ओप ॥६५॥
भ्रांति अपह्नुति बचन सौं भ्रम जब पर कौं जाइ।
ताप करत है, ज्वर नहीं, सखी मदन-तप आइ ॥६६॥
छेकापह्नुति जुक्ति करि पर सौं बात दुराइ।
करत अधर-छत पिय नहीं, सखी! सीत-रितु-बाइ ॥६७॥
कैतवऽपह्नुति एक कौं मिसु करि बरनै आन।
तीछन तीय-कटाच्छ-मिस बरषत मनमथ बान ॥६८॥

[त्रिविध उत्प्रेक्षालंकार]

उत्प्रेक्षा संभावना बस्तु, हेतु, फल लेखि।
नैन मनो अरबिंद हैं सरस बिसाल बिसेषि ॥६९॥
मनो चली आँगन कठिन तातैं राते पाइ।
तुश्र पद-समता को कमल जल सेवत इक पाइ ॥७०॥

[अतिशयोक्ति]

अतिसयोक्ति रूपक जहाँ केवलही उपमान।
कनकलता पर चंद्रमा धरे धनुष द्वै बान ॥७१॥

सापन्हव गुन एक के औरहिं पर ठहराइ ।
सुधा भख्यौ यह बदन तुअ चंद कहैं बौराइ ॥७२॥
अतिसयोक्ति भेदक वहै जो अति भेद दिखात* ।
औरै हँसिबौ देखिबौ औरै याकी बात ॥७३॥
संबंधातिसयोक्ति जहँ देत अजोगहि जोग ।
या पुर के मंदिर कहैं ससि लौं ऊँचे लोग ॥७४॥
अतिसयोक्ति दूजी वहै जोग अजोग बखान ।
तो कर आगे कलपतरु क्यौं पावै सनमान ॥७५॥
अतिसयोक्ति अक्रम जबै कारज कारन संग ।
तो सर लागत साथहीं धनुषहिं अरु अरि-अंग ॥७६॥
चपलात्युक्ति जु हेतु सौं होत शीघ्र जो काजु † ।
कंगनही भई मूँदरी पीय-गँवन सुनि आजु ॥७७॥
अत्यन्तातिसयोक्ति सो पुरबापर क्रम नाहिं ।
बान न पहुँचैं अंग लौं अरि पहिलै गिरि जाहिं ॥७८॥

[तुल्ययोगिता]

तुल्ययोगिता तीनि ए लच्छन क्रम तें जानि ।
एक शब्द में हित अहित, बहु में एकै बानि ॥७९॥
बहु सौं समता गुननि करि इहि बिधि भिन्न प्रकार ।
गुननिधि नीकै देत तू तिय कौं अरि कौं हार ॥८०॥

---

* पाठा० सबै यहि बिधि बरनत जात ।

† पाठा० के होत नामहीं काजु ।

नवलबधू की बदनदुति अरु सकुचत अरबिंद ।
तुहीं सिरीनिधि धर्मनिधि तुहीं इंद्र अरु इंदु * ॥८१॥

[दीपक]

सो दीपक निज गुननि सौं बर्न्य इतर इक भाइ ।
गज मद सौं नृप तेज सौं सोभा लहत बनाइ ॥८२॥

[दीपकावृत्ति]

दीपक आवृति तीनि बिधि आवृति पद की होइ ।
पुनि द्वै आवृति अर्थ की दूजी कहियै सोइ ॥८३॥
पद अरु अर्थ दुहूनि की आवृति तीजी लेखि ।
घन बरसै है री सखी निसि बरसै है देखि ॥८४॥
फूलै बृत्त कदंब के केतकि बिकसै आहि ।
मत्त भये हैं मोर अरु चातक मत्त सराहि ॥८५॥

[प्रतिवस्तूपमा]

प्रतिवस्तूपम समझिये दोऊ वाक्य समान ।
सोभा सूर प्रताप बर सोभा सूरहि बान ॥८६॥

[दृष्टांतालंकार]

अलंकार दृष्टांत सो लच्छन नाम प्रमान ।
कान्तिमान ससिही बन्यौ तूहीं कीरतिमान ॥८७॥

[निदर्शना]

कहियै त्रिबिधि निदर्सना वाक्य अर्थ सम दोइ ।
एक किए पुनि और गुन और वस्तु में होइ ॥८८॥

* पा० चंद ।

कहियै कारज देखि कछु भलौ बुरौ फल भाउ।
दाता सौम्य सुअंक-बिनु पूरनचंद बनाउ ॥८९॥
देखौ सहजै धरत ए खंजन-लीला नैन।
तेजस्वी सों निबल बल महादेव अरु मैन ॥९०॥

[व्यतिरेक]

व्यतिरेक जु उपमान तें उपमेयाधिक देखि।
मुख है अंबुज सों सखी मीठी बात विसेखि ॥९१॥

[सहोक्ति]

सो सहोक्ति सब साथहीं बरनै रस सरसाइ।
कीरति अरिकुल संगहीं जलनिधि पहुँची जाइ ॥९२॥

[विनोक्ति]

है विनोक्ति द्वै भाँति की प्रस्तुत कछु बिनु छीन।
अरु सोभा अधिकी लहै प्रस्तुत कछु इक हीन ॥९३॥
दृग खंजन से कंज से अंजन बिनु सोभै न।
बाला सब गुन सरस तन* रंच रुखाई है न ॥९४॥

[समासोक्ति]

समासोक्ति प्रस्तुत फुरैऽप्रस्तुत बर्नन माँझ†।
कुमुदिनिहूँ प्रफुलित भई देखि कलानिधि साँझ ॥९५॥

---

* पाठा० बलि सब गुन सरसाति है (प्रति० ख)।
† पाठा० समासोक्ति अप्रस्तुत जु फुरै जु प्रस्तुत माँझ। (प्रति० क)

[परिकर]

है परिकर आसय लिये जहाँ विसेषन होइ।
ससिबदनी यह नायिका ताप हरति है जोइ ॥९६॥

[परिकरांकुर]

साभिप्राय विसेष्य जब परिकर-अंकुर नाम।
सूधेहू पिय के कहैं नेक न मानति बाम ॥९७॥

[श्लेष अलंकार]

श्लेष अलंकृति अर्थ बहु एक शब्द में होत।
होइ न पूरन नेह बिनु ऐसो * बदन उदोत ॥९८॥

[अप्रस्तुत प्रशंसा]

अलंकार द्वै भाँति को अप्रस्तुत प्रसंस।
इक बर्नन प्रस्तुत बिना दूजें प्रस्तुत अंस ॥९९॥
धनि यह चरचा ज्ञान की सकल समै सुख देतु।
विष राखत हैं कंठ शिव आप धस्यो इहि हेतु ॥१००॥

[प्रस्तुतांकुर]

प्रस्तुत अंकुर हैं किये प्रस्तुत में प्रस्ताइ।
कहाँ गयो अलि केवरे छाँड़ि सुकोमल जाइ ॥ १०१ ॥

[पर्यायोक्ति]

पर्यायोक्ति प्रकार द्वै कछु रचना सों बात।
मिसु करि कारज साधियैं जो है चित्त सुहात ॥१०२॥

---

* पा० दीपक।

चतुर वहै जिहिं तुअ गरैं बिनु गुन डारी माल।
तुम दोऊ बैठौ इहाँ जाति अन्हावन ताल ॥१०३॥

[व्याजस्तुति]

व्याजस्तुति निन्दा मिसहि* जबैं बड़ाई होहि।
स्वर्ग चढ़ाए पतित लै गंग कहा कहुँ† तोहि ॥१०४॥

[व्याजनिंदा]

व्याजनिंद निंदा मिसहि निंदा औरै होइ।
सदा छीन कीन्हौ न क्यों चंद, मंद है सोइ ॥१०५॥*

[आक्षेप]

तीनि भाँति आक्षेप हैं एक निषेधाभासु।
पहिलहि कहियैं आपु कछु बहुरि फेरियैं तासु ॥१०६॥
दुरै निषेध जु बिधि बचन लच्छन तीनौं लेखि।
हौं नहिं दूती, अगिनि तें तिय तन ताप बिसेखि ॥१०७॥
सीतकिरन दे दरस तूँ अथवा तियमुख आहि।
जाउ, दई मो जनम दे चले देस तुम जाहि ॥१०८॥

[विरोधाभास]

भासै जबै बिरोध सो यहै बिरोधाभास।
उत रत हौ उतरत नहीं मन तैं प्राननिवास ॥१०९॥

---

* पाठा० बिषे। (प्रति० ख)

† पा० [illegible] कहौं (प्र०क)

[विभावना]

होहिं छ भाँति बिभावना कारन बिनहीं काजु।
बिनु जावक दीनैं चरन अरुन लखैं हैं आजु ॥११०॥
हेतु अपूरन तें जबै कारज पूरन होइ।
कुसुमबान कर गहि मदन सब जग जीत्यो जोइ ॥१११॥
प्रतिबंधक के होतहू कारज पूरन मानि।
निसि दिन श्रुति-संगति तऊ नैन राग की खानि ॥११२॥
जबै अकारन बस्तु तैं कारज प्रकटहि होत।
कोकिल की बानी श्रवै बोलत सुन्यो कपोत ॥११३॥
काहू कारन तें जबै कारज होत बिरुद्ध।
करत मोहि संताप ही सखी सीतकर सुद्ध ॥११४॥
पुनि कछु कारज तें जबै उपजै कारन रूप।
नैनमीन तें देखियत सरिता बहति अनूप ॥११५॥

[विशेषोक्ति]

विशेषोक्ति जो हेतु सों कारज उपजै नाहिं।
नेह घटत है नहिं तऊ काम-दीप घट माहिं ॥११६॥

---

* प्रति०ख में व्याजनिंदा का एक और दोहे में लक्षण और उदाहरण दिया गया है—

व्याजनिंद अस्तुति विषे निंदा औरै होइ।
साधु साधु, सखि! मो लिए सहे दंत नष दोइ।

[असंभव]

कहत असंभव होत जब बिनु संभावन काजु ।
गिरिवर धरिहै गोपसुत को जानत इहि आजु ॥११७॥

[असंगति]

तीनि असंगति काज अरु कारन न्यारे ठाम ।
और ठौरहीं कीजिए और ठौर को काम ॥११८॥
और काज आरंभिए औरै करिए दौर ।
कोयल मदमाती भई भूलत अम्बा मौर ॥११९॥
तेरे अरि की अंगना तिलक लगायौ पानि ।
मोह मिटायो नाहि प्रभु मोह लगायो आनि ॥१२०॥

[विषमालंकार]

विषम अलंकृति तीनि बिधि अनमिलते को संग ।
कारन को रँग और कछु कारज औरै रंग ॥१२१॥
और भलो उद्यम किए होत बुरो फल आइ ।
अति कोमल तन तीय को कहा बिरह* की लाइ ॥१२२॥
खड्गलता अति स्याम तें उपजी कीरति सेत ।
सखि लायो घनसार पै अधिक ताप तन देत ॥१२३॥

[समालंकार]

अलंकार सम तीनि बिधि जथाजोग को संग ।
कारज मैं सब पाइए कारन ही के अंग ॥१२४॥

---

* पाठा० काम । (प्र०क)

श्रम बिनु कारज सिद्ध जब उद्यम करतहि होइ।
हार बास तिय-उर कर्‌यो अपने लायक जोइ ॥१२५॥
नीच संग अचरज नहीं लछमी जलजा आहि।
जस ही को उद्यम कियो नीकै पायो ताहि ॥१२६॥

[विचित्रालंकार]

इच्छा फल बिपरीत की कीजै जतन बिचित्र।
नवत उच्चता लहन कों जे हैं पुरुष पवित्र ॥१२७॥

[अधिकालंकार]

अधिकाई आधेय की जब अधार सों होइ।
जो अधार आधेय तें अधिक, अधिक ए दोइ ॥१२८॥
सात दीप नौखंड में तुश्र जस* नाहिं समात।
शब्द-सिंधु केतो जहाँ तुश्र गुन बरने जात ॥१२९॥

[अल्पालंकार]

अल्प अल्प आधेय तें सूछम होइ अधार।
अँगुरी की मुँदरी हुती भुज में† करति बिहार ॥१३०॥

[अन्योन्यालंकार]

अन्योन्यालंकार है अन्योन्यहिं उपकार।
ससि तें निसि नीकी लगै निसिही तें ससि-सार ॥१३१॥

[विशेषालंकार]

तीनि प्रकार विशेष हैं अनाधार आधेय।
थोरो कछु आरंभ जब अधिक सिद्धि को देय ॥१३२॥

---

* पाठा० कीरति। (प्र०क) † पाठा० पहुँचनि (प्र०क)

वस्तु एक कों कीजिए बर्नन ठौर अनेक।
नभ ऊपर कंचनलता कुसुम स्वच्छ है एक ॥१३३॥
कल्पवृक्ष देख्यो सही तो कों देखत नैन।
अंतर बाहिर दिसि बिदिसि वहै तीय सुखदैन ॥१३४॥

[व्याघात]

व्याघात जो सो और तें कीजे कारज और।
बहुरि बिरोधी तें जबै काज ल्याइए ठौर ॥१३५॥
सुख पावत जासों जगत तासों मारत मार।
निहचैं जानत बाल तौ करत कहा परिहार ॥१३६॥

[कारणमाला]

कहिए गुंफ परंपरा कारनमाला होत।
नीतिहि धन, धन त्याग पुनि तातें जस उद्योत ॥१३७॥

[एकावली]

गहत मुक्त पद रीति जब एकावलि तब मानु।
दृग श्रुति लौं, श्रुति बाहु लौं, बाहु जानु लौं जानु ॥१३८॥

[मालादीपक]

दीपक एकावलि मिलैं मालादीपक नाम।
कामधाम तिय-हिय भयो तिय-हिय को तू धाम॥१३९॥

[सार अलंकार]

एक एक तें सरस जब अलंकार यह सार।
मधु सों मधुरी है सुधा कविता मधुर अपार ॥१४०॥

[यथासंख्यालंकार]

यथासंख्य बर्नन बिषे बस्तु अनुक्रम संग।
करि अरि मित्त बिपत्ति को गंजन रंजन भंग ॥१४१॥

[पर्याय अलंकार]

द्वै पर्याय अनेक कों क्रम सों आश्रय एक।
फिरि क्रम तें जब एक को आश्रय धरै अनेक ॥१४२॥
हुती तरलता चरन में भई मंदता आइ।
अंबुज तजि तियबदनदुति चंदहिं रही बनाइ ॥१४३॥

[परिवृत्ति अलंकार]

परिवृत्ती लीजै अधिक थोरोई कछु देइ।
अरि इंदिरा कटाछ यह इक सर डारैं लेइ* ॥१४३॥

[परिसंख्या]

परिसंख्या इक थल बरजि दूजे थल ठहराइ।
नेह हानि हिय में नहीं भई दीप में जाइ ॥१४४॥

[विकल्प]

है बिकल्प यह कै वहै इहि बिधि को बिरतंत।
करिहै दुख को अंत अब जम, कै प्यारो कंत ॥१४५॥

[समुच्चय]

दोइ समुच्चय भाव बहु कछु इक उपजै संग।
एक काज चाहैं कर्‌यौ है अनेक इक अंग ॥१४६॥

---

* पाठा० तिय एक बात दै लेइ। (प्र० ख)

तुअ अरि भाजत गिरत फिरि भाजत है सतराइ* ।
जोबन, विद्या, मदन, धन मद उपजावत आइ ॥१४७॥

[कारकदीपक]

कारकदीपक एक में क्रम तें भाय अनेक ।
जाति चितै, आवति हँसति, पूछति बात बिबेक ॥१४८॥

[समाधि अलंकार]

सो समाधि कारज सुगम और हेतु मिलि होत ।
उत्कंठा तिय कौं भई अथयो दिन उद्योत ॥१४९॥

[प्रत्यनीक]

प्रत्यनीक सो प्रबल रिपु ता हित सों करि जोर ।
नैन समीपी श्रवन पर कंज चढ़्यौ करि दोर ॥१५०॥†

[काव्यार्थापत्ति]

काव्यार्थापति को सबै हरि बिधि बरनत जात ।‡
मुख जीत्यौ वा चंद सों कहा कमल की बात ॥१५१॥

[काव्यलिंग]

काव्यलिंग जब जुक्ति सों अर्थ-समर्थन होइ ।
तोकों जीत्यो मदन जो मों हिय में सिव सोइ ॥१५२॥

---

* पाठा० गिर नाइ । (प्र० ख)

† यह दोहा प्रति० क में नहीं है । डा० ग्रिअर्सन ने इसके स्थान पर भारती-भूषण से दो दोहे उद्धृत किए हैं ।

‡ कवि कैमुत्तिक न्याय को काव्यार्थापति गात ।
यह पाठ भारतजीवन की प्रति का है ।

[अर्थान्तरन्यास]

बिसेष तें सामान्य दृढ़ तब अर्थान्तरन्यासु।
रघुबर के बर गिरि तरे बड़े करैं न कहा सु ॥१५३॥

[विकस्वर]

विकस्वर होत विसेष जब फिरि सामान्य बिसेष।
हरि गिरि धार्‍यौ सत्पुरुष भार सह्यौ ज्यों सेष ॥१५४॥

[प्रौढ़ोक्ति]

प्रौढ़ोक्ती उत्कर्ष विन हेतू बर्नन काम।
केस अमावस रैनि घन सघन तिमिर सब स्याम ॥१५५॥*

[संभावना]

जौ यों होइ तौ यों कहैं संभावना बिचार।
बक्ता होतौ सेस जौ तौ लहतौ गुन पार ॥१५६॥

[मिथ्याध्यवसिति]

मिथ्याध्यवसिति कहत कछु मिथ्या कल्पन रीति।
कर में पारद जौ रहै करै नबोढ़ा प्रीति ॥१५७॥

[ललित]

ललित कह्यौ कछु चाहिए ताही को प्रतिबिंबु।
सेतु बाँधि करिहै कहा अब तौ उतर्‍यौ अंबु ॥१५८॥

---

* पाठा० प्रौढ़-उक्ति उत्कर्ष को करै अहेतुहि हेत।
जमुना-तीर तमाल सों तेरे बार असेत ॥ (प्र० क)
प्रौढ़ उक्ति बरनन विषे अधिकाई अधिकार ॥
... ... के तार = (प्र० ख)

[प्रहर्षण]

तीन प्रहर्षन जतन बिनु बांछित फल जो होइ।
बांछितहू तें अधिक फल श्रम बिनु लहिए सोइ ॥१५९॥
साधत जाके जतन कौं बस्तु चढ़ी कर सोइ।
जाको चित चाहत हुतो आई दूती होइ ॥१६०॥*
दीपक को उद्यम कियो तौ लौं उदयो भानु।
निधि अंजन की औषधी सोधत लह्यो निदानु ॥१६१॥

[विषाद]

सो विषाद चित चाह तें उलटो कछु ह्वै जाइ।
नीबी परसत श्रुति परी चरनायुध धुनि आइ ॥१६२॥

[उल्लास]

गुन औगुन जब एक तें और धरै उल्लास।
न्हाइ संत पावन करैं गंग धरै इहि आस ॥१६३॥

[अवज्ञा]

होत अवज्ञा और के लगै न गुन अरु दोष।
परसि सुधाकर किरन कौं खुलै न पंकज कोष ॥१६४॥

[अनुज्ञा]

होत अनुज्ञा दोष को जो लीजै गुन मानि।
होह बिपति जामें सदा हियें चढ़त हरि आनि ॥१६५॥

---

* पाठा० अंतिम शब्द 'तेइ और वेइ' हैं। (प्र० क)

[लेख अलंकार]

गुन में दोष रु दोष में गुन कल्पन सो लेख।
सुक यहि मधुरी बानि तें बंधन लह्यो विसेष ॥१६६॥

[मुद्रा अलंकार]

मुद्रा प्रस्तुत पद बिषै औरै अर्थ प्रकास।
अली जाइ किन पीउ तहँ जहाँ रसीली बास ॥१६७॥*

[रत्नावली]

रत्नावलि प्रस्तुत अरथ क्रम तें औरहु नाम।
रसिक चतुरमुख लछिमपति†सकल ग्यान को धाम॥१६८॥

[तद्गुण अलंकार]

तद्गुन तजि गुन आपनौ संगति को गुन लेइ।
बेसरि मोती अधर मिलि पद्मराग छबि देइ ॥१६९॥

[पूर्वरूप अलंकार]

पूर्वरूप लै संग गुन तजि फिरि अपनो लेतु।
दूजौ जब गुन ना मिटै किए मिटन के हेतु ॥१७०॥
सेस स्याम ह्वै सिव-गरे जस तें उज्जल होत।
दीप बढ़ाए हूँ कियो रसना-मनिन उदोत ॥१७१॥

(अतद्गुण अलंकार)

सोइ अतदगुन संग तें जब गुन लागत नाहिं।
पिय अनुरागो ना! भयो बसि रागी मन माहिं ॥१७२॥

---

* पाठा० मन मराल नीकैं धरत तुअ पद पंकज आस ॥ (प्रति० क)

† पाठा० भूमिपति। (प्र० ख)

[अनुगुण अलंकार]

अनुगुन संगति तें जबै पूरब गुन सरसाइ।
मुक्तमाल हिय-हास तें अधिक सेत ह्वै जाइ ॥१७३॥

[मीलित अलंकार]

मीलित सो सादृश्य तें भेद जबै न लखाइ।
अरुन बरन तियचरन पर जावक लख्यो न जाइ ॥१७४॥

[सामान्य अलंकार]

सामान्य जु सादृश्य तें जानि परै न बिसेष।
नाहिं फरक श्रुति कमल अरु तिय-लोचन अनिमेष॥१७५॥

[उन्मीलित अलंकार]

उन्मीलित सादृश्य तें भेद फुरै तब मानि।
कीरति आगे तुहिनगिरि छुए परत पहिचानि ॥१७६॥

[विशेषक अलंकार]

यह बिसेषक-बिसेष पुनि फुरै जु समता माँझ।
तियमुख अरु पंकज लखे ससि दरसन तें साँझ ॥१७७॥

[गूढ़ोत्तर अलंकार]

गूढ़ोत्तर कछु भाव तें उत्तर दीन्हो होत।
उत बेतस-तरु में पथिक उतरन लायक सोत ॥ १७८॥

[चित्र अलंकार]

चित्र प्रश्न उत्तर दुहू एक बचन में सोइ।
मुग्धा तिय की केलि रुचि भौन* कोन में होइ ॥१७९॥

[सूक्ष्म अलंकार]

सुच्छम पर आसय लखैं सैननि में कछु भाइ।
मैं देख्यो उहि सीसमनि केसनि लियो छपाइ ॥१८०॥

[पिहित अलंकार]

पिहित छपी पर-बात कों जानि दिखावै भाइ।
प्रातहि आये सेज पिय हँसि दाबत तिय पाइ ॥१८१॥

[व्याजोक्ति अलंकार]

व्याजोक्ती कछु और विधि कहैं दुरै आकार।
सखि सुक कीन्हों कर्म यह दंतनि जानि अनार ॥१८२॥

[गूढ़ोक्ति अलंकार]

गूढ़उक्ति मिसि और के कीजै पर उपदेस।
कालिह सखी हौं जाउँगी पूजन देव महेस ॥१८३॥

[विवृतोक्ति अलंकार]

श्लेष छप्यो परकट किये विवृतोक्ति है ऐन।
पूजन देव महेस को कहति दिखाए सैन ॥१८४॥

[युक्ति अलंकार]

यहै जुक्ति कीन्हैं क्रिया मर्म छपायो जाइ।
पीय चलत आँसू चले पोंछत नैन जँभाइ ॥१८५

[लोकोक्ति अलंकार]

लोकोक्ती कछु वचन में लीजै* लोकप्रवाद।
नैन मूँदि षट मास लों सहिहौं बिरह-बिषाद ॥१८६॥

---

* पाठा० सों लीन्हें। (प्र० क०)

[छेकोक्ति अलंकार]

लोकोक्तिहिं कछु अर्थ सौं सो छेकोक्ति प्रमानि ।
जो गाइन कौं फेरिहै ताहि धनंजय जानि ॥१८७॥

[वक्रोक्ति अलंकार]

बक्रोक्ती स्वर श्लेष सौं अर्थ-फेर जो होइ ।
रसिक अपूरब हौ पिया बुरो कहत नहिं कोइ ॥१८८॥

[स्वभावोक्ति अलंकार]

स्वभावोक्ति यह जानिए बर्नन जाति सुभाइ ।
हँसि हँसि देखति फिरि झुकति मुह मोरति इतराइ॥१८९॥

[भाविक अलंकार]

भाविक भूत भविष्य जो परतछ कहै बताइ ।
वृन्दावन में आजु वह लीला देखी जाइ ॥१९०॥

[उदात्त अलंकार]

उपलच्छन दै सोधियै अधिकाई सो उदात्त ।
तुम जाके बस होत हौ सुनत तनक सी बात ॥१९१॥

[अत्युक्ति अलंकार]

अलंकार अत्युक्ति यह बर्नत अतिसय रूप ।
जाचक तेरे दान ते भए कल्पतरु भूप ॥१९२॥

[निरुक्ति अलंकार]

सो निरुक्ति जब जोग तें अर्थकल्पना आनि ।
ऊधो कुबजा बस भए निर्गुन वहै निदानि ॥१९३॥

[प्रतिषेध अलंकार]

सो प्रतिषेध प्रसिद्ध जो अर्थ निषेध्यो जाइ।
मोहन-कर मुरली नहीं है कछु बड़ी बलाइ ॥१६४॥

[विधि अलंकार]

अलंकार बिधि सिद्ध जो अर्थ साधिये फेर।
कोकिल है कोकिल जबै ऋतु में करिहै टेर ॥१६५॥

[हेतु अलंकार]

हेतु अलंकृत दोइ जब, कारन कारज संग।
कारन कारज ये जबै बसत एकही अंग ॥१६६॥
उदित भयो ससि मानिनी मान मिटावन मानि।
मेरी रिद्धि समृद्धि यह तेरी कृपा बखानि ॥१६७॥

[छेकानुप्रास अलंकार]

आवृति बर्न अनेक की दोइ दोइ जब होइ।
है छेकानुप्रास सो समता बिनहूँ सोइ ॥१६८॥
अंजन लाग्यो है अधर प्यारे नैननि पीक।
मुकुतमाल उपटी प्रगट कठिन हिये पर ठीक ॥१६९॥

[लाटानुप्रास अलंकार]

सो लाटानुप्रास जब पद की आवृति होइ।
सब्द अर्थ के भेद सों भेद बिनाहूँ सोइ ॥२००॥
पीय निकट जाके, नहीं घाम चाँदनी आहि।
पीय निकट जाके नहीं, घाम चाँदनी आहि ॥२०१॥

[यमकानुप्रास अलंकार]

जमक सब्द को फिरि स्रवन अर्थ जुदो सो जानि ।
सीतल चंदन चंद नहिं अधिक अग्नि ते मानि ॥२०२॥

[वृत्यनुप्रास अलंकार]

प्रति अच्छर आवृत्ति बहु वृत्ति तीन विधि मानि ।
मधुर बरन जामैं सबै उपनागरिका जानि ॥२०३॥*
दूजैं परुषा कहत सब जामैं बहुत समास ।
बिनु समास बिनु मधुरता कहै कोमला तास ॥२०४॥
अति कारी भारी घटा प्यारी बारी बैस ।
पिय परदेस अँदेस यह आवत नाहिं सँदेस ॥२०५॥
कोकिल-चातक भृंग-कुल-केकी कठिन चकोर ।
सोर सुने धरक्यो हियो काम-कटक अति जोर ॥२०६॥
घन बरसै दामिनि लसै दस दिसि नीर-तरंग ।
दंपति-हीय हुलास तें अति सरसात अनंग ॥२०७॥

---

* पाठा० अंतिम शब्द 'होई और जोई' है ।

ग्रंथप्रयोजन

अलंकार सब्दार्थ के कहे एक सौ आठ।
किए प्रगट भाषा बिषैं देखि संस्कृत पाठ ॥२०८॥
सब्दालंकृति बहुत हैं अच्छर के संजोग।
अनुप्रास षट विध कहे जे हैं भाषा जोग ॥२०९॥
ताही नर के हेतु यह कीनो ग्रंथ नवीन।
जो पंडित भाषानिपुन कविता बिषै प्रवीन ॥२१०॥
लच्छन तिय अरु पुरुष के हाव भाव रसधाम।
अलंकार संजोग ते भाषाभूषन नाम ॥२११॥
भाषाभूषन ग्रंथ को जो देखे चितु लाइ।
बिबिध अर्थ साहित्य रस ताहि सकल दरसाइ ॥२१२॥

इति श्रीमरुस्थलाधीश श्रीमन्महाराज जसवन्तसिंहराठौरकृतं
भाषाभूषणं समाप्तम् ॥

टिप्पणी

१–प्राचीन प्रथानुसार आरंभ में गणेशजी की स्तुति की गई है। इसके अनंतर इष्टदेव परब्रह्म परमेश्वर श्रीकृष्णजी की स्तुति चार दोहों में है।

४–अर्थात् छोटे हृदय में विश्वव्यापी परमेश्वर किस प्रकार समा सकेंगे।

५–रागी = सांसारिक मोह रागादि विकारों से लिप्त, लाल रंग।

स्याम = श्रीकृष्णजी, काला रंग।

लाल रंग (सांसारिक मनुष्य) काले रंग (ईश्वर) से मिलकर (स्वाभावानुसार) गहिरा लाल न हुआ प्रत्युत आश्चर्य है कि (उसके प्रतिकूल) सफेद (स्वच्छ) हो गया और उसी समय (मिलते ही) मैल (कालापन, सांसारिक विकार) को छोड़ दिया।

दूसरे प्रकार का विषम अलंकार है।

६–७–साहित्यदर्पण का० ६७ में नायक के प्रथम चार भेद इस प्रकार हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीर-ललित और धीर प्रशांत। का० ७२ में इन प्रत्येक भेदों के चार चार उपभेद किए गए हैं—दक्षिण, धृष्ट, अनुकूल और शठ। इस प्रकार सोलह भेद हुए और इनमें प्रत्येक के का० ७७ के अनुसार उत्तम, मध्यम तथा अधम भेदों से अड़तालीस भेद हुए। भाषाभूषण में केवल मध्य के भेद दिए गए हैं।

नायक वह पुरुष है जिसका चरित्र किसी साहित्यिक ग्रंथ (नाटक, काव्य आदि) का प्रधान विषय हो अथवा जो साहित्य में शृंगार का आलंबन या साधक होते हुए रूपयौवन संपन्न हों।

अनुकूल—एक ही स्त्री पर अनुरक्त रहनेवाला।

दक्षिण—कई स्त्रियों पर समान अनुराग रखनेवाला।

शठ—अपराध करने पर मीठी बातें करनेवाला ।

धृष्ट—(अपराध करने के अनंतर) धिक्कारे जाने पर भी निर्लज्ज रहनेवाला ।

८—शृंगार रस में नायक के पहले तीन भेद किए गए हैं—पति, उपपति और वैशिक । पति चार प्रकार के होते हैं जिनका (दोहा सं० ६, ७) उल्लेख किया जा चुका है । उपपति वचनचातुर्य तथा क्रियाचातुर्य से दो प्रकार के होते हैं ।

पति—विवाहित पुरुष को कहते हैं ।

उपपति—दूसरे की विवाहित स्त्री से अनुरक्त ।

वैशिक—वेश्याओं में अनुरक्त ।

९–कोकशास्त्र के अनुसार स्त्रियों के ये चार विभाग किए गए हैं ।

१०–नायिका के ये तीन भेद धर्मानुसार किए गए हैं जो क्रमशः दोहा सं० ८ के नायकों के अनुकूल हैं । (साहित्यदर्पण का० ९८)

स्वकीया = (स्वीया, स्वा) अपने पति पर अनुरक्ता स्त्री को कहते हैं ।

परकीया = पर-पुरुष पर अनुराग करनेवाली स्त्री को परकीया वा अन्या कहते हैं ।

सामान्या = धन के लिए प्रेम करनेवाली स्त्री को सामान्या, साधारणा या गणिका कहते हैं ।

११–१२ अवस्था-क्रम से स्वकीया के तीन भेद माने गए हैं—**मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा** । कामचेष्टा-रहित अंकुरित-यौवना को मुग्धा कहते हैं जो दो प्रकार की होती हैं—**ज्ञातयौवना** और **अज्ञातयौवना** । ज्ञातयौवना के पुनः दो भेद किए गए हैं—**नवोढ़ा** और **विश्रब्ध नवोढ़ा** । लज्जा तथा भय से पति-समागम की इच्छा न करनेवाली को नवोढ़ा तथा पति पर कुछ विश्वास और अनुराग रखनेवाली को विश्रब्ध नवोढ़ा कहते हैं । यह अंतिम भेद इस ग्रंथ में नहीं आया है । अवस्था के कारण जिस नायिका में लज्जा और कामवासना समान हो जाय तब वह मध्या कहलाती

है। कामकाज में पूर्ण रूप से कुशल स्त्री प्रौढ़ा या प्रगल्भा कहलाती है। परकीया केवल प्रौढ़ा ही मानी जाती है और उसके लिए प्रथम दो भेद लागू नहीं है।

१३–१५–व्यापार-भेद के कारण परकीया के छ भेद किए गए हैं।

विदग्धा–चतुरा को कहते हैं और यह क्रिया-चातुर्य तथा वचन-चातुर्य से दो प्रकार की होती हैं। गुप्ता के भूत, वर्तमान तथा भविष्य के अनुसार तीन भेद हैं।

सहेट—प्रेमी के मिलने का गुप्त स्थान, संकेत-स्थान।

अनुसयना (अनुशयाना) तीन प्रकार की होती है।

१–संकेत-विघट्टना—वर्तमान संकेतस्थान के नष्ट होने से दुखित।

२–भावि-संकेत-नष्टा—भावी संकेतस्थान के नष्ट होने न होने की संभावना से दुखित।

३–रमण-गमना–संकेत स्थान में जा न सकने से प्रिय के आने का अनुमान कर दुखित।

१६–२०–नायक तथा नायिका के संबंध से किए गए नौ भेद हैं।

प्रोषितपतिका–पति या प्रेमी के विदेशगमन से विरहकातरा स्त्री को कहते हैं।

अभिसारिका के अँधेरी तथा चाँदनी रात्रि और दिन में पियमिलन को जाने के कारण ये तीन भेद किए गए हैं—कृष्णाभिसारिका, शुक्लाभिसारिका और दिवाभिसारिका। कतिपय कवि संध्याभिसारिका तथा निशाभिसारिका भी भेद करते हैं।

उत्कंठिता–प्रेमी के कुछ देर करने के कारण वितर्क करनेवाली।

विप्रलब्ध–जिसका पति सबेरे कहीं बाहर जानेवाला हो।

२१-गर्विता के अपने रूप तथा पति के उसके प्रति अधिक प्रेम के संबंध से दो भेद किए गए हैं—रूपगर्विता और प्रेमगर्विता।

दूसरी स्त्री के पास पति के जाने का निश्चय कर संतापित हुई नायिका **अन्यसंभोगदुःखिता** कहलाती है।

२२--नायिकाओं की धैर्य-शक्ति के अनुसार ये तीन भेद किए गए हैं। साहित्यदर्पण का० १०४ के अनुसार ये भेद केवल मध्या तथा प्रौढ़ा में माने गए हैं। प्रिय में पर-स्त्री-समागम के चिन्ह को देखकर भी धैर्य से क्रोध को प्रकाश रूप में प्रगट न करनेवाली स्त्री को **धीरा**, प्रत्यक्ष क्रोध प्रदर्शित करनेवाली को **अधीरा** और कुछ गुप्त तथा कुछ प्रत्यक्ष कोप करनेवाली को **धीराधीरा** कहते हैं।

२३--**मान** तीन प्रकार के हैं—लघु, मध्यम और गुरु। पहले की हँसी खेल में, दूसरे की विनीत बातचीत से और तीसरे की प्रिय के पाँव पड़ने पर शांति होती है।

२४--**अनुभाव**--वे क्रियाएँ या चेष्टाएँ तथा गुण जिनसे रस का बोध हो अथवा जिनसे दूसरों को किसी के चित्त के भाव का अनुभव हो सके। अनुभाव चार प्रकार के हैं—**सात्विक, कायिक, मानसिक** और **आहार्य**। साहित्यदर्पण का० १६६–१७१ में इसका वर्णन है।

स्तंभ = भय, हर्ष आदि से निश्चेष्ट हो जाना।

कंप = शीत, श्रम आदि से शरीर में अकस्मात् कँपकँपी का मालूम होना।

स्वरभंग = आनंद आदि से इतना गद्गद हो जाना कि स्पष्ट भाषण करने की शक्ति का लोप हो जाय।

विवरन = (वैवर्ण्य) विषाद, क्रोध आदि से शरीर का रंग बदल जाना।

प्रलय = सुख दुख में शारीरिक व्यापार का ज्ञान न रह जाना, तन्मय हो जाने से पूर्वस्मृति का लोप होना।

रोमांच = आनंद या आश्चर्य से शरीर के रोमों का प्रफुल्लित होना।

२५–३१--**हाव**--भ्रूनेत्रादि के विकारों से संभोगेच्छा को प्रकट करने

के वाह्य भाव को हाव कहते हैं। इस ग्रंथ में दस हाव गिनाए गए हैं पर अन्य ग्रंथों में इससे अधिक मिलते हैं। लक्षण स्पष्ट है।

३२-३५-प्रेम की दो मुख्य अवस्थाएँ हैं—संभोगावस्था या संयोगावस्था और विरहावस्था या विप्रलंभावस्था। प्रथम में नायक और नायिका का मिलन और दूसरे में विच्छेद है। विरह चार कारणों से माना गया है। (१) **पूर्वराग**—बिना मिलन के केवल एक दूसरे का वर्णन सुनकर ही प्रेम का उदय होना। (२) **मान**—प्रेम-कलह। (३) **प्रवास**—प्रेमिकों का दूर देश चले जाना। (४) **करुण**—दो में से एक की मृत्यु। इन चारों कारणों से व्युत्पन्न विरह की दश अवस्थाएँ भाषाभूषण में दी गई हैं। साहित्यदर्पण का० २१८ में केवल पूर्वरागोत्पन्न विरह की ये दश अवस्थाएँ मानी गई हैं पर अन्य में न मानने का कोई उचित कारण भी नहीं दिया गया है। भाषाभूषण में अंतिम दशा 'मृत्यु' साहित्यदर्पण के 'रसविच्छेदहेतुत्वात् मरणं नैव वर्ण्यते' के अनुसार नहीं दी गई है। यह उचित है पर अन्य लोक में पुनर्मिलन का विचार कर दिया जाता तो अनुचित भी न होता।

उद्वेग—व्याकुलता से चित्त का स्थिर न रहना।

व्याधि—विरह के कारण शरीर का कृश तथा पांडु वर्ण आदि होना और मानसिक व्याधि अर्थात् कष्ट का बढ़ना।

३६-३७-किसी काव्य या नाटक में जो भाव स्थायी रूप से वर्तमान रहता है और अन्य भाव केवल जिसके सहायक मात्र होकर उसकी पुष्टि करते हैं वे **स्थायी भाव** कहलाते हैं। ये भाव, विभाव, अनुभाव आदि से अभिव्यक्त होकर पाठक या दर्शक के मस्तिष्क में जो आनंद अर्थात् रसत्व उत्पन्न करते हैं उसी को **रस** कहा जाता है। साहित्य शास्त्र में नौ स्थायी भाव माने गए हैं और उनसे नव रसों की अभिव्यक्ति होती है। नीचे कोष्ठक में दिखलाया जाता है कि किस स्थायी भाव से किस रस का उद्बोधन होता है।

स्थायी भाव	रति	हाँसी	शोक	क्रोध	उत्साह	भीति	निंदा	विस्मय
रस	शृंगार	हास्य	करुणा	रौद्र	वीर	भयानक	वीभत्स	अद्भुत

नवम रस शांत का स्थायी भाव भाषाभूषण में नहीं दिया गया है पर उसका स्थायी भाव साहित्यदर्पण में शम अर्थात् निर्वेद माना गया है। शृंगार के संयोग और वियोग दो भेदों का उल्लेख हो चुका है। वीर के दान, धर्म, युद्ध और कर्म के अनुसार चार भेद हैं।

३८–३९–मन के भाव किसी वस्तु विशेष के द्वारा ही अभिव्यक्त होते हैं और जिस वस्तु से रस उद्बुद्ध हो उसको **विभाव** कहते हैं। ये दो प्रकार के हैं—**उद्दीपन** और **आलंबन**। जिनसे रस उत्तेजित या उद्दीप्त होता है उसे उद्दीपन कहते हैं जैसे चंद्र, शरद आदि। जिनके अवलंब से मन में किसी का चित्र उपस्थित होकर रसोत्पत्ति हो उसे आलंबन कहते हैं जैसे नायक, नायिका आदि।

स्थायी भाव का सहायक होकर जो अन्य भाव गौणरूप से उसकी पुष्टि मात्र करता है वह **व्यभिचारी या संचारी भाव** कहलाता है। ये तेंतीस प्रकार के हैं। साहित्यदर्पण का० १७२ और १७३ में व्यभिचारी भाव की परिभाषा तथा भेद और का० १७४ से २०७ तक उन भेदों का वर्णन दिया गया है।

४०–४२–**निर्वेद**—वैराग्य, शरीरविषयक असारता तथा जीव परमात्मा की अभेदता का ज्ञान और निज विषय में अवमानना की उत्पत्ति।

दैन्य—दीनता (दुःखजनित)

असूया—ईर्षा, दूसरे के गुण में गर्ववश छिद्रान्वेषण करना।

उन्माद—प्रेम, दुःख आदि से चित्त का ठिकाने नहीं रहना।

आकृतिगोपन—भय, गौरव, लज्जा आदि के कारण प्रसन्नता आदि को छिपाना। (साहित्यदर्पण में इसे 'अवहित्थ' लिखा गया है)

चपलता—मात्सर्य, द्वेष आदि से हुई अस्थिरता।

अपस्मार—ग्रहादि के कारण चित्त का विक्षिप्त होना जिससे भूमि-पतन, कंप आदि हो।

व्रीड़ा—लज्जा।

जड़ता-भयादि से निस्तब्ध हो जाना।

धृति—पूर्ण संतोष, धैर्य।

मति—इच्छा।

आवेग—इष्ट या अनिष्ट के अकस्मात् घटित होने से आतुरता।

बोध—सुप्तावस्था से वाद्यादि के कारण चेतनावस्था में आना।

अमर्ष—तिरस्कार, आक्षेप या अपमान से उत्पन्न असहिष्णुता।

४३-शब्द तथा अर्थ के संबंध से भाषा की सौंदर्य-वृद्धि के अस्थिर धर्म को **अलंकार** कहते हैं और ये इन्हीं दो के संबंध से दो विभागों में बाँटे गए हैं—**अर्थालंकार, शब्दालंकार**। जिनमें दोनों का सम्मिलन होता है वे **उभयालंकार** कहलाते हैं जैसे साहित्यदर्पण का० ६६१ और काव्यप्रकाश पृ० १८१ में वक्रोक्ति को शब्दालंकार माना है पर भाषा-भूषण (दोहा १८८) में इसे अर्थालंकार माना गया है।

यहाँ से अर्थालंकार आरंभ हुआ है और पहले उपमा का लक्षण तथा उदाहरण दिया गया है।

दो वस्तुओं में (उपमान और उपमेय) भेद रहते हुए भी सादृश्य दिखलाने या समान धर्म बतलाने को **उपमालंकार** कहते हैं। इसके चार अंग हैं:—

उपमेय—जिसकी उपमा दी जाय, वर्ण्य, वर्णनीय।

उपमान—वह वस्तु जिससे उपमा दी जाय अर्थात् जिसके समान दूसरी वस्तु बतलाई जाय।

वाचक—उपमा प्रकट करनेवाले शब्द जैसे से, समान आदि।

धर्म—साधारण या सामान्य धर्म जो दोनों में दिखलाया जाय।

४४–जिनमें समता के चारों अंग वर्तमान हों उसे पूर्णोपमा कहते हैं। इसके दो उदाहरण इसमें दिए गए हैं जैसे स्त्री का मुख चंद्रमा के समान उज्वल है और हाथ नए पत्ते के समान मुलायम हैं। दोनों उदाहरण में उपमान, वाचक, धर्म और उपमेय एक ही क्रम से आये हैं।

४५–४६–जिन उपमाओं में इन चार अंगों में से एक, दो या तीन न हों वे लुप्तोपमा कहलाते हैं। इसके तीन उदाहरण दिए गए हैं—

(१) कमलमुखी (स्त्री) बिजली सी है—धर्म-लुप्तोपमा।

(२) देखो, स्त्री गेंदे की लता है—धर्म-वाचक-लुप्तोपमा।

(३) देखो, नायिका (प्रेम के समान सुंदर है क्योंकि वह) शृंगार रस के मूर्ति की कारण है—धर्म-वाचक-उपमान लुप्तोपमा।

इस प्रकार लुप्तोपमा के बहुत से भेद हो सकते हैं। एक एक अंग के लुप्त होने से चार भेद हुए—धर्म-लुप्ता, वाचक-लुप्ता, उपमान-लुप्ता और उपमेय-लुप्ता। दो दो अंग के लुप्त होने से छः भेद हुए—वाचक-धर्म-लुप्ता, वाचक-उपमान-लुप्ता, वाचकोपमेय-लुप्ता, धर्मोपमान-लुप्ता, धर्मोपमेय-लुप्ता, उपमानोपमेय-लुप्ता। इसी प्रकार तीन तीन अंगों के न रहने से भी अनेक लुप्तोपमा होते हैं।

४७—जिसमें उपमेय ही उपमान भी होता है अर्थात् एक ही वस्तु उपमान और उपमेय रूप में कही जाय।

४८—जिसमें उपमेय उपमान के समान और उपमान उपमेय के समान बतलाया जाय अर्थात् दोनों में पारस्परिक सादृश्य होना माना जाय।

४९–५३—प्रतीप–प्रतिकूल, उलटा। अर्थात् उपमेय को उपमान के समान न कहकर उलटे उपमान को उपमेय के सदृश बतलाना

उपमेय तथा उपमान के सादृश्य में आधिक्य तथा कमी आदि के संबंध से प्रतीप पाँच प्रकार के माने गए हैं।

(क) जब उपमान उपमेय के समान है—जैसे कमल नेत्र सा और चंद्र मुख सा है।

(ख) जब उपमान का उपमेय सादृश्य न कर सकने पर तिरस्कृत हो—जैसे मुख (के सौंदर्य) का क्या गर्व करती है ? ज़रा चंद्र को तो देख।

(ग) जब उपमान, उपमेय की समानता न कर सकने पर, तिरस्कृत हो—जैसे काम के बाण आँखों के तीक्ष्ण कटाक्ष के सामने मंद हैं।

(घ) जब उपमान उपमेय के समान न हो—जैसे मीन को ऐसे उत्तम नेत्रों के समान कैसे कहें ?

(ङ) जब उपमान उपमेय के सामने व्यर्थ सा मालूम हो—जैसे मृग (-नेत्र) (नायिका के) नेत्रों के आगे कुछ नहीं हैं।

५४-५७—जहाँ उपमेय में भेदरहित उपमान का आरोप हो और निषेध-वाचक शब्द न आया हो वहाँ रूपक होता है। रूपक के पहले दो भेद हुए—तद्रूप और अभेद। अब प्रत्येक के अधिक, सम और न्यून के अनुसार तीन तीन भेद हुए। प्रत्येक के अलग अलग उदाहरण दिए गए हैं।

(१) **अधिक तद्रूप**—यह मुख-रूपी चंद्र उस चंद्र से (इस बात में) अधिक है कि उसका प्रकाश दिन रात रहता है।

(२) **न्यून तद्रूप**—समुद्र से उत्पन्न न होने पर भी यह दूसरी लक्ष्मी की तरह शोभायमान है।

(३) **सम तद्रूप**—नेत्र-कमल के होते अन्य कमल किस काम का है।

(४) **अधिक अभेद**—कनकलता-रूपी स्त्री चलती हुई अच्छी लगती है। (चलना अधिक है)

(५) **न्यून अभेद**—विद्रुम (मूँगा) रूपी अधर समुद्रोत्पन्न नहीं है।

(६) **सम अभेद**— कमल रूपी मुख विमल, सरस और सुगंधयुक्त है।

५८—जब उपमेय का कार्य उपमान द्वारा किया जाना अथवा दोनों का एक रूप होकर कार्य करना कहा जाय तब **परिणाम** अलंकार होता है। रूपक से इसमें यही भेद है कि इसमें उपमान द्वारा कार्य होना दिखला कर विशेष चमत्कार उत्पन्न किया जाता है जो रूपक में नहीं होता। जैसे—देखो, स्त्री अपने नेत्र-कमलों से देखती है। इसमें नेत्र का काम 'देखना' कमल द्वारा होना कहा गया है।

५९-६०—एक ही वस्तु का अनेक रूपों में वर्णन करने से उल्लेख अलंकार होता है। इसके दो भेद हैं—

(१) जब एक वस्तु को अनेक जन अनेक रूपों में देखें—जैसे, (किसी को) अर्थी कल्पतरु, स्त्री कामदेव और शत्रु काल के समान देखते हैं।

(२) जब एक ही वस्तु को गुणों के अनुसार एक ही व्यक्ति कई रूपों में देखे—जैसे, तू युद्ध में अर्जुन, तेज में सूर्य और वचन-चातुरी में बृहस्पति के समान है।

६१-६२—स्मरण, भ्रम तथा संदेह अलंकारों के नाम ही से उनके लक्षण प्रकट हैं। इनके उदाहरण क्रमशः दिए गए हैं।

(१) चंद्र को देख प्रेयसी के मुख का स्मरण होता है।

(२) मुख को चंद्र समझकर ये चकोर साथ लगे हुए हैं।

(३) यह (प्रेयसी का) मुख है या चंद्र है या नया खिला हुआ कमल है।

६३-६८—जिसमें उपमेय का निषेध कर उपमान का स्थापन हो उसे **अपह्नुति** कहते हैं। भाषाभूषण में ये छ प्रकार के बतलाए गए हैं।

(१) **शुद्धापह्नुति**—किसी एक धर्म या गुण को आरोपित कर उपमान का स्थापित किया जाना—जैसे, ये उरोज नहीं हैं गेंदा के (गोल) फूल हैं।

(२) **हेत्वापह्नुति**—जब हेतु या कारण दिया जाय—जैसे, चंद्र में तीव्रता नहीं है और रात्रि को सूर्य नहीं रहते। देखो यह बड़वानल ही

है। [स्त्री निज विरहानल से दुखित हो कहती है कि चंद्र तो तीव्र नहीं होता तब उसके प्रकाश से तरी के बदले गर्मी क्यों मालूम होती है। इसीसे वह सोचती है कि यह बड़वानल तो नहीं है]

(३) **पर्यस्तापह्नुति**—जब एक के गुण का दूसरे पर आरोप किया जाय—जैसे, यह मुख-चंद्र का प्रकाश है, चंद्रमा नहीं है। [सुधाधर—चंद्रमा और अमृतरूपी अधर। चंद्रमा के अमृत धारण की शक्ति और प्रकाश का मुख पर आरोप किया गया है।]

(४) **भ्रांत्यापह्नुति**—दूसरे की भ्राँति को मिटाने के लिए जब अपह्नुति का प्रयोग हो—जैसे हे सखी यह ज्वर नहीं है, मैं काम ज्वर से तप्त हूँ।

(५) **छेकापह्नुति**—युक्ति से छिपाना—जैसे, मेरे ओठों के क्षत प्रिय के किए हुए नहीं हैं वरन् जाड़े की हवा से हो गए हैं।

(६) **कैतवापह्नुति**—जब एक के मिस दूसरा कार्य होना कहा जाय—जैसे, स्त्री के तीक्ष्ण कटाक्षों के बहाने काम बाण चलता है।

६९-७०—भेद-ज्ञानपूर्वक उपमेय में उपमान की प्रतीति होने को **उत्प्रेक्षा** कहते हैं। मानो, जानो, मनु, जनु आदि उत्प्रेक्षावाचक शब्द हैं। इसके पाँच भेद हैं—**वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा, गम्योत्प्रेक्षा** और **सापह्नवोत्प्रेक्षा**। प्रथम के **उक्तविषया** और **अनुक्तविषया** तथा दूसरे और तीसरे के **सिद्ध विषया** तथा **असिद्ध विषया** दो दो भेद हैं। उत्प्रेक्षावाचक शब्द के न होने से गम्योत्प्रेक्षा और अपह्नुति तथा उत्प्रेक्षा के संम्मिश्रण से सापह्नवोत्प्रेक्षा होता है। इस ग्रंथ में केवल प्रथम तीन भेद दिए गए हैं उनके उपभेद नहीं आये।

(१) **वस्तूत्प्रेक्षा**—जिसमें एक वस्तु दूसरे के तुल्य दिखलाई जाय। उदा० नेत्र विशेष रूप से बड़े और सरस हैं मानों वे कमल हैं।

(२) **हेतूत्प्रेक्षा**—जिसमें जिस वस्तु का हेतु न हो उसको उसी

वस्तु का हेतु मानना। उदा० मानो कठोर आँगन में चलने के कारण उसके पैर लाल हो गए हैं।

(३) फलोत्प्रेक्षा—जिसमें जो जिसका फल नहीं है वह उसका फल माना जाय—जैसे, तुम्हारे पैरों की समानता करने के लिए कमल एक पाँव से जल में खड़ा होकर तप करता है।

७१–७८—जिसमें लोकसीमा का उल्लंघन प्रधान रूप से दिखलाया जाय उसे अतिशयोक्ति कहते हैं। उपमेय में उपमान की निश्चयात्मक अभेद प्रतीति भी अतिशयोक्ति है और उत्प्रेक्षा से इससे यह भिन्नता है कि उसमें अनिश्चित रूप से कथन रहता है। इसके सात भेद दिए गए हैं।

(१) रूपकातिशयोक्ति—जब केवल उपमान ही का वर्णन किया जाय। जैसे, एक धनुष (भ्रू) और दो बाण (कटाक्ष) लिए चंद्रमा (मुख) कनकलता (पीत वर्ण शरीर) पर शोभित है।

(२) सापह्नवातिशयोक्ति—जब एक का गुण दूसरे पर आरोपित किया जाय। जैसे, अमृत तो तुम्हारे मुख में है पर पागल होकर लोग चंद्रमा में बतलाते हैं।

(३) भेदकातिशयोक्ति—जब अत्यंत भेद दिखलाया जाय। जैसे, उसका हँसना, चलना और बातचीत करना सबसे भिन्न है (अर्थात् उत्तम है)।

(४) संबंधातिशयोक्ति—असंबंध में संबंध दिखलाना। जैसे, लोग कहते हैं कि इस नगर के गृह चंद्रमा तक ऊँचे हैं।

घरों और चंद्रमा की उच्चता का कोई संबंध नहीं है पर वैसा दिखलाया गया है।

(५) असंबंधातिशयोक्ति—संबंध में असंबंध दिखलाना। जैसे, तुम्हारे हाथ के आगे कल्पतरु कैसे सम्मानित हो सकता है।

दानी का हाथ और कल्पतरु दोनों का संबंध ठीक है पर असंबंध दिखलाया गया है।

(६) अक्रमातिशयोक्ति—जब कारण तथा कार्य साथ ही होते कहे जाँय। जैसे, तुम्हारे तीर धनुष तथा शत्रु के शरीर में साथ ही लगते हैं।

धनुष पर तीर चढ़ाने ही से वे शत्रु की ओर चलाए जा सकते हैं इसलिए चढ़ाना कारण और शत्रु तक तीर का पहुँचना कार्य हुआ। दोनों का साथ होना दिखलाया गया है। कटाक्ष से तात्पर्य है।

(७) चपलातिशयोक्ति—जब कार्य कारण के शीघ्र पीछे ही हो। जैसे, पति के आज ही जाने का समाचार सुनकर (स्त्री ऐसी दुबली होगई कि) अंगुली की अंगूठी उसके हाथ में कड़े के समान हो गई।

सुनना कारण है जिसके अनंतर ही झट दुबला होना कार्य है।

(८) अत्यंतातिशयोक्ति—कार्य के अनंतर कारण दिखलाना। जैसे, शरीर तक बाण पहुँचने के पहले ही शत्रु गिर जाते हैं।

७९-८१—तुल्ययोगिता अलंकार—कई प्रस्तुत उपमेयों तथा अप्रस्तुत उपमानों का एक ही धर्म बतलाया जाय। यह तीन प्रकार का होता है।

(१) जब एक ही शब्द से हित और अहित दोनों अर्थ निकले। जैसे—हे गुणनिधि तू स्त्री को तथा शत्रु को हार देता है।

हार—गले का एक आभरण (हित), पराजय (अहित)।

(२) जब कई में एक ही धर्म कहा जाय। जैसे, (संध्या के समय) नवोढ़ा बधू के मुख की कांति तथा कमल मुर्झा रहे हैं।

यहाँ मुर्झाना या सकुचाना धर्म मुख तथा कमल दोनों में कहा गया है।

(३) जब बहुत से धर्म (गुण) का एक साथ होना कहा जाय। जैसे, तुम्ही श्रीनिधि (लक्ष्मीवान), धर्मनिधि (अत्यंत धर्मात्मा), इंद्र (के समान तेजस्वी) और इंदु (के समान कांतिमान) हो।

एक ही मनुष्य में चार गुणों का होना दिखलाया गया है।

८२—दीपक—जब प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का एक धर्म हो। जैसे, राजा की तेज से तथा हाथी की मद से शोभा होती है।

यहाँ प्रस्तुत राजा तथा अप्रस्तुत हाथी का शोभा पाना एक धर्म है।

८२-८४—दीपकावृत्ति—तीन प्रकार की है।

(१) जब केवल पदों की आवृत्ति हो (अर्थ भिन्न हो)। जैसे, सखी देखो बादल बरस रहा है जिससे रात्रि बरस ही के समान हो रही है।

बरसै है पद की आवृत्ति होते हुए भी अर्थ भिन्न भिन्न हैं।

(२) जब केवल अर्थ की आवृत्ति हो (पद भिन्न हों)। जैसे, कदंब फूल रहा है और केतकी में भी फूल लगे हुए हैं।

फूले और विकसै में पद दो होते अर्थ एक है।

(३) जब पद और अर्थ दोनों की आवृत्ति हो। जैसे मोर मत्त है और चातक भी मत्त है, दोनों की प्रशंसा करो।

मत्त शब्द की उसी अर्थ में आवृत्ति है।

८६—जब उपमेय और उपमान के साधारण धर्म अलग अलग दो समान वाक्यों में कहे जाँय। जैसे, सूर्य की शोभा उसके तेज से है और शूरवीर की उसके बाण से है।

८७—नाम ही से लक्षण प्रकट है। उदा०—जैसे चंद्रमा कांतिमान है वैसे तुम कीर्तिमान हो।

उपमेय और उसके साधारण धर्म तथा बिंबप्रतिबिंबभाव से उपमान तथा उसके साधारण धर्म का वर्णन हो। प्रतिवस्तूपमा में दोनों का एक ही धर्म शब्दभेद से कहा जाता है पर दृष्टांत में भिन्न भिन्न धर्म (कांति और कीर्ति) का उल्लेख होता है।

८८-९०—भूषण ने चंद्रालोक के अनुसार निदर्शना का लक्षण यो लिखा है—

सरिस वक्य युग अरथ को करिए एक अरोप।

अर्थात् दो सदृश वाक्यों में अर्थ के ऐक्य का आरोप करना। भाषा-भूषण में यह तीन प्रकार की कही गई है—

(१) प्रथम निदर्शना—जब दो वाक्यों का अर्थ एक हो (असम को सम करना)। जैसे, चंद्रमा निष्कलंक है वैसे ही सौम्य दाता भी।

(२) द्वितीय निर्शना—जब अन्य (उपमान) का गुण दूसरे (उपमेय) में स्थापित कर एकता लाई जाय। जैसे, देखो ये नेत्र खंजन-लीला को (चपलता) सहज ही धारण किए हैं।

(३) तृतीय निदर्शना—कार्य (उदाहरण रूप में) देखकर भला बुरा फल कहना। उदा० तेजस्वी के आगे शक्ति निर्बल हो जाती है, जैसा महादेव और कामदेव का हाल हुआ है।

९१—उपमान से उपमेय का आधिक्य प्रगट करना व्यतिरेक है। जैसे, मुख कमल सा है पर (आधिक्य यह है कि) इससे मीठी बातें निकलती हैं।

इसमें और प्रतीप में इतनी ही विभिन्नता है कि इसमें आधिक्य प्रकट रूप में कहा जाता है।

९२—जब कई बात एक साथ ही होती हुईं अच्छी सरस चाल से कही जाय। जैसे, आपकी कीर्त्ति (भागते हुए) शत्रुओं के समूह के साथ साथ समुद्र तक पहुँच गई।

[प्रथम विजय तथा दूसरे पराजय के कारण एक दूसरे का पीछा करते हुए]

९३-४—**विनोक्ति**—दो प्रकार की है—

(१) जब उपमेय किसी वस्तु के न रहने से क्षीण हो। जैसे, तेरे नेत्र खंजन तथा कमल से हैं पर बिना अंजन लगाए शोभा नहीं पाते।

(२) जब उपमेय किसी वस्तु के न रहने से उत्तमतर होते हुए भी क्षीण हो। जैसे, ऐ स्त्री तेरे शरीर में सभी गुण हैं पर रुखाई तनिक भी नहीं है (जिससे तू अपने पति को मान करके वश कर सके)।

९५—जब उपमेय में उपमान का वर्णन (कार्य, लिंग तथा गुण) की समानता के कारण समारोप किया जाय। जैसे, संध्या के समय चंद्रमा को देख कुमुदिनी प्रफुल्लित हुई।

यहाँ कुमुदिनी के बहाने नायिका का वर्णन किया गया है कि वह संध्या के समय पति के आने से प्रसन्न हुई।

९६—विशेष अभिप्राय लिये हुए जब विशेषण आता है। जैसे, यह चंद्रमुखी नायिका देखकर ही ताप हरण करती है।

चंद्र ताप हरण करता है तथा इसीसे हिमकर, सुधाकर आदि कहलाता है।

९७—जब विशेष्य अभिप्राय लिए हुए होता है। जैसे, यह वामा पति के सीधे प्रकार कहने को भी नहीं मानती।

वामा (जो वाम हो, टेढ़ी हो) शब्द साभिप्राय है।

९८—एक शब्द के अनेक अर्थ लेकर कुछ कहना। जैसे, मुख पूर्ण नेह (प्रेम, तेल) के बिना इस प्रकार नहीं चमकता।

९९-१००—भाषाभूषण में इसकी परिभाषा एक प्रकार से नहीं दी गई है। बा० गिरिधरदास कृत भारतीभूषण में यह इस प्रकार लिखी गई है—

अप्रस्तुत बर्नन बिषै प्रस्तुत बन्यौं जाइ।

महाकवि भूषण ने शिवराजभूषण में यह लक्षण दिया है—

प्रस्तुति लीन्हें होत जहँ अप्रस्तुति परसंस।

पद्माकर भट्ट ने पद्माभरण में इसका लक्षण देकर इसके पाँच भेद बतलाए हैं।

अप्रस्तुत वृत्तांत महँ जहँ प्रस्तुत को ज्ञान।

वे भेद सारूप्य निबंधना, सामान्य निबंधना, विशेष निबंधना, हेतु-निबंधना, और कार्यनिबंधना हैं। इन पाँचों भेदों के लक्षण तथा उदाहरण दिए जाते हैं—

(क) जब इसका समता द्वारा उपयोग हो । जैसे,

बक धरि धीरज कपट तजि जो बनि रहै मराल ।
उघरै अंत गुलाब कवि अपनी बोलनि चाल ॥ गुलाब

(ख) सामान्य के कथन से विशेष अभीष्ट का वर्णन किया जाय । जैसे,

सीख न मानै गुरुन की अहितहि हित मन मानि ।
सो पछितावै तासु फल ललन भए हित हानि ॥ मतिराम

(ग) विशेष के कथन द्वारा अभीष्ट सामान्य का उल्लेख हो । जैसे,

लालन सुरतरु धनद हू अनहितकारी होय ।
तिनहूँ को आदर न ह्वै यों मानत बुध लोय ॥ मतिराम

(घ) अप्रस्तुत कारण के कथन से अभीष्ट कार्य का वर्णन हो । जैसे,

कह मारुतसुत सुनहु प्रभु ससि तुम्हार प्रिय दास ।
तव मूरति बिधु-उर बसति सोइ स्यामता भास ॥ तुलसी०

(ङ) इष्ट कारण का कार्य के कथन द्वारा वर्णन किया जाय । जैसे,

अरि-तिय भिल्लिनि सों कहैं घन बन जाय इकंत ।
सिव सरजा सों बैर नहिं सुखी तिहारे कंत ॥ भूषण

(भाषाभूषण के अनुसार यह दूसरे भेद के अंतर्गत है ।)

भाषाभूषण में इस अलंकार के केवल दो भेद किए गए हैं—

(१) प्रस्तुत के बिना ही केवल अप्रस्तुत द्वारा वर्णन हो । जैसे, यह ज्ञान-चर्चा धन्य है जो सभी समय सुख देती है ।

अप्रस्तुत ज्ञानचर्चा करनेवाले की प्रशंसा है । यह प्रथम पाँच भेद में से कार्य निबंधना है ।

(२) जिसमें प्रस्तुत का अंश रूप में वर्णन रहते हुए अप्रस्तुत का (विशेष) वर्णन हो । जैसे, कंठ में विष के रहने के कारण शिवजी जल (गंगाजी) भी धारण किए हुए हैं ।

डा० ग्रिअर्सन ने प्रस्तुत को अंश रूप में विद्यमान न पाकर शिव नामक किसी राजा के होने की कल्पना की है कि उसने किसी दुष्ट पुरुष

की (विष रूप) पदवृद्धि कर दी है पर उसे शांत रखने को उसपर एक सुपुरुष को नियुक्त किया है। पर इस प्रकार भी अर्थ किया जा सकता है कि कोई किसी कटुवादी से कहता है कि शिवजी कंठ में विष धारण करते हैं इसी लिए आपने भी धारण कर लिया है।

१०१–जब एक प्रस्तुत के वर्णन में दूसरे प्रस्ताव पर उसका अभिप्राय घटाया जाय। जैसे, हे अलि कोमल जई को छोड़कर तू (कटीले) केवड़े पर कहाँ गया है ?

तात्पर्य यह है कि अलि को संबोधन कर उसके बहाने कहता है कि हे पुरुष (कोमल जई) भक्ति को छोड़कर (कंटकाकीर्ण केवड़ा) सांसारिक माया मोह में क्यों फँस गया है ?

१०२–३–पर्यायोक्ति दो प्रकार की है—(१) जिसमें कोई बात साफ़ साफ़ न कहकर वचनचातुरी से घुमा फिराकर कही जाय। जैसे, वही चतुर है जिसने तुम्हारे गले में बिना डोरी की माला पहिरा दी है।

नायक ने अन्य स्त्री का आलिंगन किया था जिससे उस स्त्री के गले की मोती की माला की छाप उसके गले और छाती पर उभड़ आई। इस चिन्ह को नायिका देखकर इस प्रकार चातुर्य से कहती हुई उसे उपालंभ देती है।

(२) जिसमें किसी अच्छे बहाने से अपना इच्छित कार्य साधा जाय। जैसे, तुम दोनों यहीं ठहरो हम तालाब पर नहाने जाती हैं।

सखी नायिका और नायक को एकत्र देखकर स्नान करने के बहाने वहाँ से टल गई।

१०४–निंदा के बहाने स्तुति करना। जैसे, हे गंगे तुम्हें क्या कहें तुमने पापियों को भी स्वर्ग में स्थान दे दिया।

यहाँ स्वर्ग से पवित्र स्थान को पापियों के द्वारा अशुद्ध करना कह कर कवि निंदा के बहाने गंगाजी की मोक्षदायिनी शक्ति की स्तुति करता है।

१०५–साहित्यदर्पण में व्याजनिंदा नहीं है पर व्याजस्तुति का जो

लक्षण दिया गया है उसी में व्याजनिंदा का भी लक्षण आ गया है। साहित्य-दर्पण ही का लक्षण भूषण यों कहते हैं—

सुस्तुति में निंदा कढ़े निंदा में स्तुति होइ।
व्याजस्तुति ताको कहत कवि भूषन सब कोइ॥

भारतीभूषण, पद्माभरण, रहिकमोहन आदि में भी इसी प्रकार के लक्षण दिए गए हैं।

भाषाभूषण में व्याजनिंदा का लक्षण यों दिया है—एक मनुष्य की निंदा के बहाने दूसरे की निंदा हो। जैसे, वह मूर्ख है जिसने चंद्रमा को सदा के लिए क्षीण नहीं बनाया है।

विरहिणी नायिका को चंद्रमा का तापकारक होना ज्ञात था इसीलिए वह कहती है कि स्रष्टा ने उसे सदा के लिए क्षीण क्यों न बनाया जिससे वह उसके ताप से बचती और इसी से उसे मूर्ख कहती है। इस प्रकार वह स्रष्टा की निंदा के बहाने चंद्रमा की निंदा करती है।

स्तुति में निंदा का आभास देना भी व्याजनिंदा है जिसका लक्षण और उदाहरण पृ० १५ की पाद टिप्पणी में दिया हुआ है।

१०६–१०८–भाषाभूषण में आक्षेप तीन प्रकार के बतलाए गए हैं पर उनकी परिभाषा नहीं दी गई है। साहित्यदर्पण के लक्षण के अनुसार जो परिभाषा डा० ग्रिअर्सन ने लालचंद्रिका में दिया है वह मूल से भिन्न है। संक्षेप में आक्षेप उसे कहते हैं जिसमें व्यंग्य या ध्वनि की सूचना निषेधात्मक वर्णन द्वारा विशेष रूप से मिले। आक्षेप तीन प्रकार का है—

(१) जिसमें निषेध का आभास हो। जैसे, मैं दूती नहीं हूँ, नायिका की शरीर अग्नि से अधिक तप्त है।

दूती दिखलाती है कि नायिका का शरीर इतना तप्त है कि कोई दूतीत्व नहीं कर सकता पर यह निषेध का आभास मात्र है क्योंकि यदि वह दूती नहीं होकर आई थी तो उसे नायिका की दशा का ज्ञान कैसे हुआ और उस दशा के कथन की क्या आवश्यकता थी। साथ ही दूतीत्व

के निषेध का यह भी आशय है कि दूतियाँ बातें बढ़ाकर कहनेवाली होती हैं इससे वह दूती न बनकर स्पष्टवक्ता बनती है।

(२) पहले कुछ कहकर उसका निषेध करना। जैसे, चंद्र दर्शन दे वा (कुछ काम नहीं चंद्रमुखी) स्त्री का मुख (पास ही) है।

(३) इस प्रकार कहना कि निषेध गुप्त रूप में हो। जैसे, (हे प्रिय) जाओ, पर परमेश्वर मुझे वहीं जन्म दे जिस देश को तुम जा रहे हो।

प्रगट में यहाँ आज्ञा मिल गई है पर यह व्यंग्य है कि जिस देश में तुम जा रहे हो वहीं परमेश्वर मुझे जन्म दे अर्थात् तुम्हारे विरह में मेरी मृत्यु अवश्य हो जाएगी तब परमेश्वर मुझे उस देश में जन्म देकर तुमसे मिलावे।

१०९–जब केवल विरोध का आभास मात्र हो। जैसे, वहाँ (अन्य स्त्री में) रत हो पर प्रेयसी मन से (यहाँ भी) नहीं उतरती।

यहाँ उतरत है और उतरत नहीं में विरोध का आभास मात्र है। वास्तविक नहीं है।

११०–११५–किसी कार्य का कारण के बिना होना या उसके संबंध में कुछ विशेष कल्पना का होना **विभावना** है। यह छ प्रकार का होती है—

(१) बिना कारण के कार्य का होना। जैसे, बिना महावर लगाए चरण आज लाल दिखला रहे हैं।

(२) अपूर्ण कारण से पूर्ण कार्य का होना। जैसे, देखो कामदेव ने केवल कुसुम बान को हाथ में लेकर ही संसार को जीत लिया।

केवल धनुर्बाण का हाथ में ले लेना ही युद्ध में जयप्राप्ति का अपूर्ण कारण है।

(३) रुकावट के होते हुए भी कार्य का पूरा होना। जैसे, रात दिन आँखें कान के पास रहती हैं तिस पर भी वे मोह में पड़ी हुई हैं।

श्रुति—कान, वेद। श्लेष से श्रुति का वेद अर्थ लेने से मोह के मार्ग में रुकावट पड़ने पर भी कार्य पूरा हो गया।

(४) ऐसे कारण से किसी कार्य का होना जो उसका कारण नहीं हो सकता। जैसे, अभी कबूतर को कोयल की बोली बोलते हुए सुना।

तात्पर्य है कि कबूतर से गर्दनवाली नायिका कोयल सी मीठी बोली बोलती है। ऐसा कहकर सखी नायक को नायिका की सुधि दिलाती है।

(५) जिस कारण से जैसा कार्य होना चाहिए वैसा न होकर उसका उल्टा होना। जैसे, हे सखी चंद्रमा मुझे ताप ही देता है।

(६) कार्य से कारणोत्पत्ति का आभास मिले अर्थात् जो वास्तविक कारण न हो। जैसे, नेत्र-रूपी मछली से इस आश्चर्यजनक नदी को प्रवाहित होते देखते हैं।

नेत्र से अश्रु का निकलना ठीक होते हुए भी मछली से नदी का प्रवाहित होना अशुद्ध है प्रत्युत् नदी से मछली की उत्पत्ति है।

११६–कारण होते हुए भी कार्य का न होना। जैसे, शरीर के भीतर काम के दीप के जलते हुए भी नेह (प्रेम और तैल) कम नहीं हुआ।

दीपक जलने से तैल को कम होना चाहिए पर नहीं होता।

यह दो प्रकार का होता है—जिस निमित्त से कार्य नहीं हुआ उसका उल्लेख होने से उक्तगुण और न उल्लेख होने से अनुक्तगुण दो भेद हुए। यह उदाहरण अनुक्तगुण-विशेषोक्ति है।

११७–जब किसी संभावना के न रहते हुए भी कोई कार्य हो जाय। जैसे, कौन जानता था कि आज गोपसुत (कृष्णजी) पहाड़ उठा लेंगे।

शिवराजभूषण छं० १९६ में यही लक्षण दिया गया है।

११८–२०–असंगति तीन प्रकार की होती है—

(१) जब कार्य और कारण में देश-काल-संबंधी अन्यथात्व दिखलाया जाय। जैसे, कोयल (वसंत-आगमन से प्रसन्न हो) मत्त हुई पर आम की मंजरी झूम रही है (हवा के कारण)।

कोयल के मत्त होने से आम्र-वृक्ष का झूमना दिखलाया है। दोनों—कारण और कार्य—असंबंध हैं।

(२) जिस स्थान पर कार्य का होना उचित है वहाँ न होकर दूसरे स्थान पर होना । जैसे, तुम्हारे शत्रु की स्त्री ने हाथ में तिलक लगा लिया है ।

तिलक मस्तक पर लगाया जाता है उसे हाथों में लगा लिया ।

इसका यह तात्पर्य हो सकता है कि शत्रु की स्त्री ने माथे का सिंदूर-बिंदु पतिशोक से हाथों से पोंछ डाला । डा० ग्रिअर्सन ने श्लेष से तिलक को तिल + क करके क का अर्थ जल लिया है पर हिंदी शब्दसागर में क का अर्थ जल नहीं मिलता । कं का अर्थ अवश्य जल है । कभी कभी धारा ठीक करने को कविगण 'को' को 'क' सा भी लिख जाते हैं । इससे तिल + क का अर्थ तिल को लेने से डा० साहेब का अर्थ ठीक हो जाता है अर्थात् शत्रु की स्त्रियाँ पति को जल देने के लिए हाथ में तिल लेती हैं ।

१२१-२३-विषम अलंकार तीन प्रकार का होता है—

(१) दो बेमेल वस्तुओं का साथ होना । जैसे, स्त्री का शरीर तो अत्यंत कोमल है और कहाँ यह विरहाग्नि ? अर्थात् वह कैसे इस अग्नि को सहन कर सकेगी ?

(२) कार्य और कारण के रंग (बाह्य रूप) भिन्न भिन्न हों । जैसे, तेरे काली तलवार रूपी लता से श्वेत कीर्ति उत्पन्न हुई ।

पाँचवीं विभावना से इसमें यही विभिन्नता है कि उसमें कार्य और कारण ही भिन्न होते हैं । इसमें कार्य और कारण में भिन्नता न होते हुए केवल बाहरी रूप ही विभिन्न है ।

(३) अच्छे कार्य का बुरा फल हो । जैसे, सखी ने कपूर लगाया पर शरीर को उससे अधिक ताप ही हुआ ।

१२४-२६-सम अलंकार (विषम का उल्टा) तीन प्रकार का होता है—

(१) एक दूसरे के योग्य वस्तुओं का साथ होना । जैसे, अपने योग्य समझ कर हार ने स्त्री के वक्षस्थल पर वास किया ।

दोनों ही में सौंदर्य की समानता है

(२) कार्य और कारण में सब प्रकार की समानता हो। जैसे, यदि लक्ष्मी नीचगामिनी हो तो आश्चर्य नहीं क्योंकि उसकी उत्पत्ति ही जल से है।

जल नीचगामी अर्थात् नीचे की ओर जानेवाला होता है। उससे लक्ष्मी की उत्पत्ति होना अर्थात् कारण और स्वभावतः नीचगामिनी होना अर्थात् कार्य में समानता है।

(३) काम करते ही बिना पूर्ण उद्यम के फल का प्राप्ति होना। जैसे, उसने यश पाने का प्रयत्न किया और वह उसे सहज ही में मिल गया।

१२७–इच्छानुकूल फल पाने के लिए उसका उल्टा प्रयत्न करना। जैसे, पवित्र मनुष्य उच्चता (उन्नति) प्राप्त करने को नम्रता ग्रहण करते हैं।

१२८–२९–अधिक अलंकार दो प्रकार का है—

(१) जब आधार से आधेय की अधिकता या विशेषता दिखलाई जाय। जैसे, तुम्हारा यश सात द्वीप और नौ खंड में भी नहीं समाता।

आधेय यश की बहुलता दिखलाई गई है।

(२) जब आधार आधेय से बढ़कर अर्थात् अधिक हो। जैसे, वह शब्द-सिंधु कितना बड़ा है जिससे तुम्हारे गुणों का वर्णन किया जाता है।

आधार शब्द-सिंधु की विशेषता प्रदर्शित होती है। इस अलंकार के लिए आधार और आधेय विशद होने चाहिएँ।

१३०–जब आधार आधेय से छोटा होय। जैसे, अँगूठी जो उँगली में पहिरी जाती थी वह अब हाथ में पहिरी जा सकती है।

आधेय मुँदरी की अपेक्षा हाथ का अधिक सूक्ष्म होना दिखलाया गया है।

१३१–दो वस्तुओं के किसी गुण का एक दूसरे के कारण उत्पन्न होना वर्णन किया जाय। जैसे, चंद्रमा से रात्रि की और रात्रि ही से चंद्रमा की शोभा है।

चंद्रमा तथा रात्रि के पारस्परिक संबंध से शोभा गुण की उत्पत्ति हुई।

१३२-३४-विशेष अलंकार तीन प्रकार का है—

(१) जब आधेय बिना आधार के हो। जैसे, आकाश-स्थित कंचन-लता में एक साफ फूल लगा हुआ है।

आकाशगंगा को लता तथा चंद्रमा को (आकाश-) पुष्प माना है जो बिना आधार (वृक्ष का तना) के आकाश में रहता है।

(२) जब थोड़े आरंभ की फलसिद्धि बहुत हो। जैसे, नेत्रों ने तुम्हें देखते ही कल्पवृक्ष को देख लिया।

केवल नायिका देखने से आरंभ हुआ पर एकाएक कल्पवृक्ष देख लेने से फलसिद्धि का महत्व बहुत बढ़ गया।

(३) एक ही वस्तु का अनेक स्थानों पर होना वर्णित हो। जैसे, वही सुखदायक स्त्री मेरे हृदय में, बाहर और दसो दिशाओं में (वास करती है)।

प्रेमी कहता है कि उसे यही मालूम होता है कि उसकी प्रेयसी सब स्थानों में है।

१३५-३६-व्याघात दो प्रकार का होता है—

(१) जब किसी से (जिससे कोई ज्ञात कार्य होता है) विपरीत कार्य का होना दिखलाया जाय। जैसे, जिससे (फूलों से) संसार को सुख मिलता है उसी से कामदेव मारता है।

कामदेव के बाण फूलों के बने हुए प्रसिद्ध हैं।

(२) जब किसी तर्क को उलटा कर उसके विरुद्ध पक्ष की क्रिया का समर्थन किया जाय। जैसे, यदि आप निश्चयतः हमें बालक समझते हैं तब क्यों छोड़ जाते हैं।

किसी ने अपने पुत्र को उसके बालक होने का बहाना कर साथ लिवा जाने से रोका तब वह उसी तर्क को उलट कर अपने पक्ष के समर्थन में पेश करता है।

१३७-किसी कारण से उत्पन्न कार्य जब अन्य कार्य का कारण बन

लाया जाय और क्रमशः इस प्रकार दो या दो से अधिक कारण हों। जैसे, नीति से धन, धन से त्याग और त्याग से यश की प्राप्ति होती है।

कारणमाला को गुंफ भी कहते हैं।

१३८–जब कई वस्तुओं का क्रमशः ग्रहण और त्याग के रूप में उल्लेख हो और पूर्वकथित के प्रति उत्तरोत्तरकथित का विशेषण भाव से स्थापना किया जाय। जैसे, आँखें कान तक, कान बाहु तक और बाहु जंघे तक पहुँचते हैं।

पूर्व-कथित आँखों, कानों तथा बाहुओं के प्रति उत्तरोत्तरकथित कान तक, बाहु तक और जंघे तक विशेषण रूप में लाए गए हैं।

एकावली का दूसरा भेद वह है जिसमें पूर्वकथित के प्रति उत्तरोत्तर-कथित का विशेषण भाव से निषेध किया जाय। जैसे, जहाँ वृद्धगण न हों वह सभा शोभा नहीं देती और वे वृद्ध जो कुछ पढ़े लिखे नहीं हैं वे भी शोभा नहीं देते।

१३९–दीपक और एकावली नामक अलंकारों के मिलने पर माला-दीपक अलंकार होता है। जैसे, स्त्री का हृदय कामदेव का घर हुआ और तुम स्त्री के हृदय के घर हो।

यहाँ भिन्न भिन्न कारणों से नायिका का हृदय तथा नायक दोनों ही कामदेव के वासस्थान हुए इससे दीपक हुआ और पूर्वकथित के प्रति उत्तरकथित का विशेषण भाव से स्थापना किया गया इससे एकावली हुई।

१४०–जब कई वस्तुओं का क्रमशः गुणों को उत्तरोत्तर बढ़ाते हुए वर्णन किया जाय। जैसे, अमृत शहद से अधिकतर मधुर है और कविता उससे भी अधिक मधुर है।

१४१–जब वस्तुओं का उल्लेख कर पुनः उसी क्रम से उनके गुण, क्रिया आदि का वर्णन किया जाय। जैसे, शत्रु, मित्र तथा विपत्ति को दमन, प्रसन्न और नष्ट करो।

क्रम ठीक न रहने से क्रम भंग दोष होता है।

१४२–४३–पर्याय दो प्रकार के होते हैं—

(१) जब अनेक वस्तु का एक ही के आश्रित होने का वर्णन हो। जैसे, पैरों में पहले चपलता थी पर अब मंदता आ गई है (अर्थात् नायिका मंदगामिनी हो गई है)।

(२) जब एक वस्तु के क्रमशः अनेक आश्रय लेने का वर्णन हो। जैसे, स्त्री की मुख-शोभा कमल को छोड़कर चंद्रमा में आ बसी है।

रात्रि में कमल के मुरझा जाने से उसकी उपमा स्त्री-मुख से न दी जाकर चंद्र से दी जाती है। इसके विपरीत दिन में कमल से उपमा दी जाती है।

१४३—जब थोड़ा देकर अधिक लिया जाय। जैसे, अरी ! (नायक) एक बार तीर चलाकर (कटाक्ष कर) (नायिका का) यह शोभायुक्त कटाक्ष लेता है।

न्यून तीर के बदले कांतियुक्त कटाक्ष की प्राप्ति हुई।

हिन्दी कविता में प्रायः न्यून तथा अधिक के अदल बदल ही के उदाहरण मिलते हैं इसीलिए भाषाभूषण में केवल विषम परिवृत्ति के लक्षण को ही परिवृत्ति का लक्षण मान लिया है। उत्तम से उत्तम और न्यून से न्यून के विनिमय को **समपरिवृत्ति** और उत्तम से न्यून तथा न्यून से उत्तम के विनिमय को **विषम परिवृत्ति** कहते हैं। इस प्रकार चार भेद हुए जिनमें से केवल अंतिम इस ग्रंथ में दिया गया है।

१४४—जब किसी बात का दूसरे स्थान पर होना उसी के समान एक स्थान को व्यंग्य से वर्जित करने के अभिप्राय से कहा जाय। जैसे, नेह (तैल, प्रेम) का हृदय में नाश नहीं हुआ वरन् दीपक में जाकर हुआ।

तात्पर्य है कि किसी वस्तु, गुण आदि को उनके उपयुक्त स्थानों से हटाकर किसी एक विशेष स्थान पर स्थापित किया जाय। उदाहरण में दिखलाया है कि प्रेम का हृदय में कम होना संभव नहीं है और यदि कम होगा तो दीपक में होगा।

१४५—जब दो बातों में यह निश्चय न हो कि 'ऐसा होगा या वैसा'।

जैसे, (नायिका कहती है कि) मेरे दुख का अंत या तो यम करेंगे या मेरे प्यारे पति ।

अर्थात् मृत्यु से या पति-आगमन से दुःखों का अंत हो जाएगा ।

१४६-४७-समुच्चय दो प्रकार का होता है—

(१) जब अनेक भाव एक साथ ही उत्पन्न हों। जैसे, तुम्हारे शत्रु भागते हैं, गिरते हैं और फिर डर के मारे भागते हैं ।

थक कर गिरना और डर से भागना साथ ही हुआ ।

(२) अनेक कारण मिलकर एक कार्य करना चाहें जिसके लिए एक काफ़ी हो । जैसे, यौवन, विद्या, धन और कामदेव मद उत्पन्न करते हैं ।

इनमें एक ही मद उत्पन्न करने को बहुत है तिस पर भी अनेक कारण कहे गए हैं ।

१४८-जब कई एक क्रियाओं या भावों का क्रमशः एक ही में (कर्ता) वर्णन किया जाय । जैसे, देखकर जाती है, आती है, हँसती है और ज्ञान की बातें पूछती है ।

नायिका को अनेक कार्य करते या भाव प्रगट करते कहा गया है ।

१४९-अन्य कारण के मिल जाने से जब कार्य सुगम हो जाय । जैसे, स्त्री की इच्छा हुई (कि पति से मिलें, उसी समय) सूर्यास्त हुआ ।

सूर्य के अस्त होने से उसकी इच्छा-पूर्ति में सुगमता हो गई ।

१५०-जब प्रबल शत्रु के (उससे पार न पाने पर) मित्रोंका अहित करे । जैसे, नेत्रों के समीपस्थ कानों पर कमलों ने धावा किया ।

कमलों ने नेत्रों से सौंदर्य में परास्त होकर उसके समीपस्थ कानों को उनका मित्र मानकर उनका अहित किया अर्थात् कर्णफूल बनकर, जो कमल के आकार का होता है, कानों को नीचे खींचने लगे ।

मित्र-पक्षका हित करना भी इस अलंकारके अंतर्गत माना जाता है ।

१५१-जब 'इस प्रकार हुआ तब ऐसा क्यों न होगा' कहकर

वर्णन किया जाय। जैसे, जब मुख ने चंद्रमा पर (सौंदर्य में) विजय पा लिया तब कमल की क्या बात है (अर्थात् निस्संदेह वह परास्त होगा)

कैमुतिक न्याय से जब कोई बड़ी बात हो गई तब छोटी के होने में संदेह न रहना ही इस अलंकार की विशेषता है।

१५२—जब किसी कही हुई बात का युक्ति के साथ समर्थन किया जाय। जैसे, हे मदन, जिस शिव ने तुम्हें परास्त किया था उसको मैंने हृदय में धारण किया है, (इसलिए मुझे अब मत सताओ नहीं तो तुम्हारा नाश निश्चय है)

कोई नायिका काम-बाण से दुखित हो स्वरक्षार्थ प्रयत्न कर रही है। इसमें कामदेव को युक्ति से बतलाया गया है कि यदि तुम हमारे हृदय तक आने का साहस करोगे तो पुनः भस्म हो जाओगे।

इस अलंकार में एक पद, या एक वाक्य के अर्थ से कारण दिखलाए जाने के कारण दो भेद—पदार्थ-हेतु और वाक्यार्थ-हेतु—माने गए हैं।

१५३—जब विशेष बात से सामान्य का समर्थन किया जाय। जैसे, रामजी की कृपा से पर्वत भी जल में उतराते थे, महान पुरुष क्या नहीं कर सकते।

यहाँ 'बड़े क्या नहीं कर सकते' इस सामान्य वाक्य का समर्थन 'रामजी के वर से पर्वत तैरते थे' इस विशेष वाक्य से किया गया है।

जिस प्रकार विशेष से सामान्य का समर्थन होता है उसी प्रकार विशेष का सामान्य से भी होता है और ये दोनों साधर्म्य या वैधर्म्य द्वारा किए जाते हैं। भाषाभूषण का उदाहरण साधर्म्य द्वारा समर्थित है।

१५४—जब विशेष बात का सामान्य तथा पुनः विशेष से समर्थन किया जाय। जैसे, कृष्णजी ने गोवर्धन पर्वत धारण किया, सत्पुरुष सब भार (कष्ट) सहन करते हैं जिस प्रकार शेषनाग (सहन करते हैं)

पहले 'गोवर्धन-धारण' विशेष बात का समर्थन 'सत्पुरुष के भार-

सहन' सामान्य बात से किया गया और फिर इस सामान्य बात का 'शेषनाग के पृथ्वी-भार-धारण' विशेष बात से समर्थन हुआ।

भारती-भूषण में इसके दो भेद किए गए हैं अर्थात् जब अंतिम विशेष बात उपमान रूप में आवे या न आवे। भाषाभूषण का उदाहरण प्रथम भेद के अंतर्गत है।

१५५–जब उत्कर्ष का जो हेतु नहीं है वह हेतु कल्पित किया जाय। जैसे, बादलों से पूर्ण अमावस्या की रात्रि के अंधकार से तेरे बाल काले हैं।

यहाँ रात्रि का अंधकार नायिका के बालों के कालेपन का कारण कल्पित किया गया है जो वास्तविक कारण नहीं है।

१५६–'यदि ऐसा हो तो ऐसा हो' कहकर जब वर्णन किया जाय। जैसे, यदि शेषनाग वक्ता हों तो तुम्हारे गुणों (के कथन) का पार पा सकते हैं।

अर्थात् इन सहस्रमुखी वक्ता को छोड़कर दूसरा नहीं कह सकता।

१५७–जब एक असंभव बात का होना दूसरे असंभव बात पर निर्भर हो। जैसे, हाथ में पारद जब रहे तब (आशा करिए कि) नवबधू प्रीति करेगी।

१५८–जो कुछ कहना है उसे स्पष्ट न कहकर प्रतिबिंब मात्र कहा जाय। जैसे, पुल बाँधकर अब क्या करेगा, जल तो उतर गया।

कोई किसी से कहता है कि वाधा तो दूर हो गई है अब इतने प्रयत्न की कोई आवश्यकता नहीं है।

१५९–६१–प्रहर्षण (= आनंद) के तीन भेद होते हैं—

(१) बिना यत्न के इच्छित फल का प्राप्त होना। जैसे, जिसे हृदय चाहता था वह आप ही दूती बनकर आ पहुँची।

(२) बिना प्रयत्न के जब इच्छा से अधिक फल की प्राप्ति हो। जैसे, दीपक बालने की तैयारी करते ही थे कि सूर्योदय हो गया।

(३) जब वांछित पदार्थ के प्राप्त्यर्थ उद्योग की तैयारी करते ही वह

पदार्थ मिल जाय। जैसे, (पृथ्वी में गड़े हुए धन को देखने के लिए) निधि-अंजन की औषधी खोजते समय आदि कारण (धन) ही मिल गया।

१६२—जब कुछ इच्छा के विरुद्ध हो जाय। जैसे, नीवी पर हाथ डालते ही अरुण-शिखा की बाँग (सवेरा होने की सूचना) सुनाई पड़ी।

१६३—जब एक के गुण या दोष से दूसरे में गुण या दोष का होना दिखलाया जाय। जैसे, गंगाजी को यह आशा है कि सज्जन स्नान करके उसे पावन करें।

गुण से गुण, दोष से दोष, गुण से दोष और दोष से गुण का होना दिखलाने से यह अलंकार चार प्रकार का होता है।

भाषाभूषण का उदाहरण प्रथम भेद है। कुछ लोगों की राय में प्रथम दो सम और अंतिम दो विषम माने जाने चाहिए।

१६४—जब एक वस्तु के गुण वा दोष से दूसरी वस्तु का गुण वा दोष न प्राप्त करना कहा जाय। जैसे, चंद्रमा की किरणों के लगने से भी कमल नहीं खिलता।

गुण से गुण तथा दोष से दोष न प्राप्त होना दो भेद हैं।

१६५—जब दोष में भी गुण मान लिया जाय। जैसे, वह विपत्ति आवे जिससे भगवान हृदय में सदा रहा करें।

यह साधारणतः प्रसिद्ध है कि विपत्ति में परमेश्वर का ध्यान होता है इसी से यद्यपि विपत्ति दोष है पर विपत्ति में ईश्वर को हृदय-स्थित करने की शक्ति पाकर उसे गुण मान लिया है।

१६६—जब गुण में दोष की और दोष में गुण की कल्पना की जाय। जैसे—इसी मीठी बोली के कारण सुग्गा पींजरे में बंद हुआ।

१६७—जब किसी पद के एक अर्थ के अतिरिक्त दूसरा अर्थ भी निकलता हो। जैसे, (कोई नायिका कहती है कि) हे भ्रमर! वहाँ जाकर रस क्यों नहीं लेता जहाँ सरस सुगंध है।

साथ ही नायिका के कहने का यह तात्पर्य है कि सखी! क्यों नहीं

जाती ? पति वहाँ हैं जहाँ उस रसीली (अन्य नायिका) का वास-स्थान है।

१६८–जब प्रस्तुत अर्थ के साथ साथ क्रम से अन्य नाम भी निकलें। जैसे, हे रसिक तुम चतुरों में मुख्य, लक्ष्मीवान तथा सब ज्ञानों के घर हो।

इस प्रस्तुत अर्थ के साथ साथ चतुर्मुख से ब्रह्मा, लक्ष्मीपति से विष्णु और ज्ञानों के धाम से शिव के नाम निकलते हैं।

१६९–जब अपना गुण छोड़कर समीपवर्ती का गुण ग्रहण करे। जैसे, बेसर का मोती ओठ (की लालिमा) से मिलकर माणिक की शोभा देता है।

इस अलंकार में गुण से रंग का तात्पर्य है। 'भूषण' ने स्पष्ट लिखा है–

जहाँ आपनो रंग तजि गहै और को रंग।
ताको तद्गुण कहते हैं भूषण बुद्धि उतंग॥

१७०-७१–पूर्वरूप दो प्रकार होता है—

(१) जब समीपवर्ती का गुण लेकर पुनः उसे छोड़ अपना पूर्वरूप धारण कर ले। जैसे, (नीलकंठ) शिवजी के गले में पड़ने से शेष श्याम हो गया पर पुनः उनके उज्वल यश के कारण श्वेत हो गया।

(२) जब समीपवर्ती के गुण न लेने का कारण प्रस्तुत करने पर भी वह न दूर हो। जैसे, दीपक के बुझा देने पर भी उसके कमरबंद के मणियों के कारण उजाला बना रहा।

१७२–जब समीपवर्ती के गुण का कुछ असर न हो। जैसे, हमारे अनुरक्त हृदय में रहने पर भी प्रिय में अनुराग नहीं उत्पन्न हुआ।

१७३–जब संग से गुण अधिक बढ़े। जैसे, हृदय की प्रसन्नता (हास्य) से मोती की माला अधिक श्वेत हो जाती है।

१७४–अधिक समानता के कारण जब भेद अर्थात् भिन्नता स्पष्ट न हो। जैसे, स्त्री के लाल रंग के पैरों में लगा हुआ महावर अलग नहीं मालूम होता।

१७५–जब समानता के कारण विशेष भेद न मालूम हो। जैसे, न पलक गिरनेवाले नेत्र, कान और कमल में भिन्नता नहीं मालूम होती।

१७६–जब समानता में किसी एक कारण से भेद प्रगट हो जाय। जैसे, कीर्ति (रूपी पर्वत) और हिमालय छूने से पहिचान पड़ते हैं।

कीर्ति श्वेत मानी गई है और हिमालय बर्फ से ढकने के कारण श्वेत है।

१७७–समता में भी जब विशेष भेद से भिन्नता प्रगट हो जाय। जैसे, स्त्री-मुख और कमल संध्या के समय चंद्र-दर्शन के अनंतर समझाई पड़ते हैं (अर्थात् दोनों में भेद ज्ञात होता है)। संध्या होने पर कमल मुरझा जाता है।

१७८–जब किसी गूढ़ अभिप्राय से कोई बात कही जाय। जैसे, हे पथिक, वहाँ उस वेतस वृक्षों (के झुंड) में उतरने योग्य सोता है।

इसमें गुप्त रूप से संकेतस्थान बतलाना भी इष्ट है।

१७९–जब उसी वाक्य से प्रश्न और उत्तर दोनों निकले। जैसे, कोन (कौन) गृह में मुग्धा स्त्री काम-केलि करती है?

इस प्रश्न का उत्तर उसी वाक्य से निकलता है कि 'मुग्धा स्त्री गृह-कोन में काम-केलि करती है।' केवल 'कोन' शब्द का उपयुक्त रूप रखने से दोनों अर्थ निकल आते हैं।

इस अलंकार का एक भेद और है कि जब कई प्रश्नों का एक ही शब्द से उत्तर निकले।

१८०–जब दूसरे का अभिप्राय समझ कर ऐसी चेष्टा की जाय कि जिससे उस पर यह प्रकट हो जाय कि उसका अभिप्राय समझ लिया गया। जैसे, मैंने उसकी ओर (साभिप्राय दृष्टि से) देखा तब उसने अपनी शीशमणि को बालों में छिपा लिया।

प्रेमी के मिलने का समय केवल दृष्टि ही से पूछने पर नायिका ने उसके अभिप्राय को समझकर इशारे ही से शीशमणि को बालों में छिपाकर यह बतलाया कि रात्रि में मिलूँगी।

१८१–जब दूसरे के मन की कोई बात जानकर क्रिया द्वारा अपना भाव प्रकट किया जाय। जैसे, सबेरे पति के शैया पर आते ही स्त्री हँस-कर उसका पाँव दाबने लगी।

अर्थात् स्त्री यह भाव प्रकट करती है कि तुम रात्रि भर कहीं दूसरे जगह रहे हो, और इससे थक गए हो। उसी थकावट को दूर करने के लिए मैं तुम्हारा पाँव दाबती हूँ।

१८२–जब बहाने से किसी प्रत्यक्ष सत्य कारण को छिपाकर कुछ और कहा जाय। जैसे, हे सखी, सुग्गे ने दाँतों को अनार समझकर (अधर पर यह) क्षत कर दिया है।

नायिका प्रिय के चुंबन से हुए दंतक्षत को छिपानेके लिए यह बहाना कर रही है।

१८३–जब कोई गुप्त बात किसी और के बहाने दूसरे के प्रति कही जाय। जैसे, हे सखी ! मैं कल महादेवजी के पूजन को जाऊँगी।

यहाँ नायिका सखी से कहने के बहाने पास खड़े हुए प्रेमी को सुना रही है कि कल महादेवजी के मंदिर में भेंट होगी।

१८४–जब प्रकट रूप से कुछ कह कर श्लेष द्वारा उसे गोपन किया जाय। जैसे, सैन से दिखाकर कहती है कि महादेवजी की पूजा करो।

यहाँ नायिका प्रकट रूप में अपनी इच्छा कहकर भी उसे श्लेष से गोपन कर रही है।

१८५–जब किसी कृत्य का मर्म दूसरे कृत्य से छिपाया जाय। जैसे, पति के विदा होते ही आँसू निकल आए पर उन्हें पोंछते समय उसने जँभाई लिया।

अर्थात् उसने जँभाई लेने को आँसू निकलने का कारण प्रकट करना चाहा।

१८६–लोक-प्रवाद में प्रचलित उक्ति का जब प्रयोग किया जाय। जैसे, विरह के दुःख को आँख मूँदकर छ महीने तक सहूँगी।

आँख मूँद कर अर्थात् धैर्य के साथ।

१८७–जब प्रचलित उक्ति का सार्थक प्रयोग किया जाय। जैसे, जो गायों को फेर लावे उसी को अर्जुन समझो।

विराट की गायों को अर्जुन कौरवों से छीन कर फेर लाए थे जो उन्हें अपहरण कर लिए जाते थे। यह अब एक साधारण उक्ति हो गई है जिसका तात्पर्य है कि वीर ही बड़े कार्य को कर सकता है। यहाँ नायिका अपनी सखी से कहती है कि उसके रूठे हुए या विदेश जाते हुए पति को लौटा लाना कठिन कार्य है।

१८८–जब कही हुई बात का श्लेष या (क्रोध आदि से विकृत) स्वर से दूसरा अर्थ लगाया जाय। जैसे, हे पति, तुम अपूर्व रसिक हो और तुम्हें बुरा कोई नहीं कहता।

नायिका क्रोध के कारण व्यंग्य से उल्टा कह रही है। उसका तात्पर्य है कि तुम झूठे प्रेमी हो और सभी तुम्हारी बुराई करते हैं।

१८९–जब किसी का वर्णन उसी के अवस्था, स्वभाव आदि के अनुसार ही किया जाय। जैसे, वह हँसकर देखती है, फिर सिर झुका लेती है और इतरा कर मुख घुमा लेती है।

नायिका के क्रियाओं का स्वाभाविक वर्णन है।

१९०–जब भूत या भविष्य की बातों का वर्तमान के समान प्रत्यक्ष रूप में वर्णन हो। जैसे, आज भी वह लीला वृंदावन में (प्रत्यक्ष सी होती हुई) मुझे दिखलाई पड़ती है।

भूतकाल में देखी हुई लीला की स्मृति ऐसी तीव्र है कि नायिका को वह उस समय भी होती सी मालूम पड़ती है।

१९१–जब किसी के थोड़े गुण का परिचय देकर उससे बहुत बढ़ा चढ़ा वर्णन प्रकट किया जाय। जैसे, थोड़ी ही सी बात सुनकर तुम जिसके वश हो जाते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि थोड़ी सी बात से जब तुम वशीभूत हो गए तब उसके अधिक बातों का कितना विशेष प्रभाव पड़ेगा।

भारती-भूषण में इसका लक्षण यों दिया है—

श्लाघनीय जो चरित सो अंग और को होइ।
अरु अति संपति बर्निबो है उदात्त विधि दोइ॥

अर्थात् उदात्त दो प्रकार के होते हैं—(१) जब किसी के उसी प्रशंसनीय चरित्र का उल्लेख हो जो अन्य के साथ संबंध रखता हो। (२) जब (संभाव्य) विभूति का बढ़ा चढ़ा कर वर्णन किया जाय।

१९२—जब किसी के गुण आदि का अत्यंत बढ़ाकर वर्णन हो। जैसे, राजन्! तेरे दान से भीखमंगे भी कल्पतरु हो गए।

अन्य लक्षणकारों का मत है कि यह वर्णन अद्भुत और अतथ्य हो। भारती-भूषण में लिखा है कि

अद्भुत मिथ्या होइ तहँ अलंकार अत्युक्ति।

यह चंद्रालोक के अनुसार है और भाषाभूषण का उदाहरण भी कम से कम अद्भुत और मिथ्या अवश्य है।

१९३—जब किसी शब्द का सयुक्तिक पर मनमाना अर्थ किया जाय। जैसे, हे उद्धव! (कृष्णजी) कुब्जा के वश में हो गए। (वे वस्तुतः) निर्गुण हैं।

यहाँ निर्गुण का अर्थ गुणों से रहित अर्थात् मूर्ख से लिया गया है। पर निर्गुण का प्रधान अर्थ है—जो सत्व, रज और तम तीनों गुणों से परे हो। यहाँ दूसरा अर्थ, जो लिया गया है वह मनमाना होते भी युक्तियुक्त है।

१९४—जब प्रसिद्ध अर्थ का निषेध इस प्रकार किया जाय (कि कुछ विशेष अर्थ निकले)। जैसे, कृष्णजी के हाथ की यह मुरली नहीं है, कोई बड़ी बलाय है।

यहाँ निषेध करके मुरली की इस विशेषता को प्रदर्शित किया है कि उसके राग को सुनकर वे प्रेम से अधीर हो जाती थीं।

१९५–जब किसी शब्द के साधारण अर्थ पर विशेष जोर दिया जाय। जैसे, कोयल तभी कोयल है जब ऋतु में वह (अपनी मीठी) बोली सुनाता है।

यहाँ कोयल पर विशेष ज़ोर दिया गया है।

१९६–९७–हेतु अलंकार दो प्रकार का है—

(१) जब कारण और कार्य एक साथ होते कहे जायँ। जैसे, मानिनी का मान मिटाने को चंद्रमा उदित हुआ।

यहाँ चंद्रोदय कारण और मान मिटाना कार्य का साथ साथ होना दिखलाया गया है।

(२) जब कार्य और कारण एक ही में सम्मिलित से कहे जायँ। जैसे, तुम्हारी कृपा ही मेरी ऋद्धि और समृद्धि है।

यहाँ कृपा कारण और ऋद्धि तथा समृद्धि कार्य दोनों एकमय कहे गए हैं।

१९८–९९–अनुप्रास उस शब्दालंकार को कहते हैं जिसमें किसी पद के एक ही अक्षर बार बार आकर उस पद की अधिक शोभा बढ़ावें। इसके पाँच भेद हैं—

छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, लाटानुप्रास, और अंत्यानुप्रास।

छेकानुप्रास उसको कहते हैं जिसमें कई व्यंजनों की, स्वर के एक न रहते भी, (कुछ हो अंतर पर) प्रत्येक की दो बार आवृत्ति हो। जैसे, अधर में अंजन, प्यारे! नेत्रों में पीक और ठीक कठोर हृदय पर मुक्तमाला का चिन्ह उपट कर प्रकट हो रहा है।

इस उदाहरण में कुछ कुछ अंतर पर अ, प, क, ठ, म और ह की आवृत्ति है।

२००-०१-जब शब्दों और पदों की आवृत्ति हो पर (अन्वय के भेद से) अर्थ में भेद हो। जैसे, जिसके पास प्रिय है, उसके लिए घाम नहीं है वह चाँदनी के समान हो जाती है (अर्थात् तापकारक नहीं है) पर जिसके प्रिय पास नहीं है उसके लिए चाँदनी भी घाम (के समान तापकारक) है।

शब्दों और पद की पूर्ण आवृत्ति होने पर भी अन्वय के भेद से भिन्न भिन्न दो अर्थ निकले।

२०२-जब केवल शब्दों की सुनने में आवृत्ति मालूम हो पर अर्थ भिन्न हों। जैसे, चंदन और चंद नहीं शीतल हैं। वे अग्नि से अधिक (तापकारक) मालूम होते हैं।

चंद और नहिं शब्द को मिला देने से चंदनहिं हो जाता है जिससे सुनने में चंदन की पुनरावृत्ति मालूम होती है। यह भेद भी अनुप्रास ही के अंतर्गत है।

२०३-जब एक ही अक्षर की अनेक बार आवृत्ति हो। इसके तीन भेद हैं—

(१) जिसमें केवल मधुर अक्षरों की आवृत्ति हों, (समास न हों और यदि हों तो बहुत छोटे)। जैसे, अत्यंत काली और घनी घटा उठी है, प्रेयसी की अवस्था अभी थोड़ी है, पति परदेश गया है और (आगमन का) संदेशा भी नहीं आया।

इसमें री और स की आवृत्ति है।

(२) जिसमें बहुत से समास हों। जैसे, कोयल, चातक, भौंरे, कठोर मोर और चकोर के शोर सुनकर हृदय काँप उठा क्योंकि वे कामदेव की बलवती सेना है। क की आवृत्ति दोहे भर में है और पूरा पूर्वार्ध द्वंद्व समास से एक हो रहा है।

(३) जिसमें न समास ही हो और न मधुर अक्षरों की आवृत्ति हो। जैसे, बादल बरस रहा है, बिजली चमक रही है और दसों दिशाओं में

जल ही जल दिखला रहा है। इससे युगल प्रेमियों में आनंद से प्रेम उमगा पड़ता है।

इसमें स, द और त अक्षरों की आवृत्ति है।

२०९-वृत्यनुप्रास के तीन भेदों तथा छेक, लाट और यमक को मिलाकर हुए।

अनुक्रमणिका ।

श

सूचना ।

हमारे यहाँ से हिन्दी के सभी प्रकाशक तथा ग्रन्थकारों की तथा हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत की भी पुस्तकें यथोचित मूल्य पर मिलती हैं। एक बार मंगा के देखिये।

कुछ एक पुस्तकों के नाम मूल्य के सहित दिये जाते हैं।

सुधासर

क्या आप प्राचीन कविताओं के प्रेमी हैं? यदि हाँ तो-एकबार नव रस पूर्ण कविताओं के इस अनूठे संग्रह को अवश्य पढ़िये। मेरा अनुमान है कि एक बार पढ़ने पर-आपके हृदय मंदिर में प्राचीन कविता स्थान पाने की अधिकारिणी बन जायेगी। मू० ॥)

सुजान सागर

क्या आपने घनानन्द कवि का नाम सुना है? यदि नहीं-तो अब सुनिए। स्वर्गीय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी आपकी कविता पान कर लहालोट हो जाया करते थे। इससे अधिक परिचय क्या दिया जाय। मू० ॥)

हिंडोला

हिन्दी साहित्य संसार आधुनिक प्रसिद्ध कवि बाबू जगन्नाथदास जी 'रत्नाकर' के नाम से परिचित है। यह हिंडोला उक्त महानुभाव की शृंगारिक तथा भावपूर्ण कविता है। मू० ।)

कुसुम संग्रह

यह पुस्तक हिन्दी की सुपरिचित सुलेखिका श्रीमती वंग महिला जी की कृति है। इस पुस्तक में स्त्री शिक्षा विषयक गल्पों तथा निबन्धों का संग्रह है। इसे भारतीय महिलाओं के लिये अत्यन्त उपयोगी जान संयुक्त प्रान्त की शिक्षा विभाग ने इसे पुस्तकालय तथा पुरस्कार में स्थान दिया है।

मू० १॥)

नोट—उपरोक्त ग्रन्थों की बहुत ही थोड़ी प्रतियाँ रह गयी हैं शीघ्र मंगाइये।

व्यवस्थापक—

पाठक एण्ड सन्स-राजा दरवाजा, काशी।